* ओ३म् *

वरुण की नौका

वेद के प्रभुभक्तिमय वरुण सूक्तों की व्याख्या
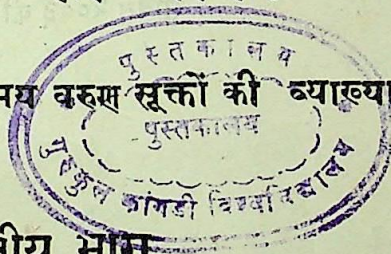
द्वितीय भाग

ऋग्वेद के शेष तीन और अथर्ववेद के
पांच वरुण सूक्त

लेखक

प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आचार्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

प्रथमावृत्ति १००० | सम्वत् २००४ | मूल्य ३)

गुरुकुल-स्वाध्यायमञ्जरी का १७वां पुष्प

श्रद्धानन्द-स्मारक निधि के सदस्यों की सेवा में—

प्रिय महोदय !

नये वर्ष के साथ "स्वाध्याय-मञ्जरी" का यह १७ वां पुष्प आपको समर्पित है। वेद के वरुण-सूक्तों में भक्ति की अपूर्व भागीरथी प्रवाहित हुई है। उन्हीं सूक्तों की "वरुण की नौका" नाम से यह व्याख्या आपके कर कमलों में प्रस्तुत है। वेद में चौदह वरुण-सूक्त हैं। "वरुण की नौका" के प्रथम भाग में ऋग्वेद के छः वरुण-सूक्तों की व्याख्या हो चुकी है। इस द्वितीय भाग में ऋग्वेद के शेष तीन और अथर्ववेद के पांच वरुण सूक्तों की व्याख्या है।

जो उपासक इन वरुण-सूक्तों में प्रदर्शित रीति से भगवान् की भक्ति करके उसके रस में आप्लावित होंगे और प्रभुभक्ति के प्रसंग में ही मन्त्रों में वर्णित जीवन को पाप रहित और पवित्र बनाने के उपायों का अवलम्बन करेंगे उनको वरुण प्रभु के—वरण करने योग्य उस भगवान् के—दर्शन हो जायेंगे। और इस प्रकार अपने दर्शन देकर भगवान् उन्हें अपनी नौका में बिठा लेंगे। भगवान् के दर्शन पाकर उनकी नौका में चढ़ गया उपासक अनायास ही इस भवसागर से पार हो जायेगा।

आप भी इन सूक्तों में बताई गई रीति से प्रभु के गुणों का चिन्तन और कीर्तन करके उनके साक्षात्कार की नौका पर चढ़ने के अधिकारी बन सकें इस इच्छा से सम्वत् २००३ की यह भेंट आपको समर्पित की जा रही है। यदि इसके स्वाध्याय से आपकी आध्यात्मिक भूख की कुछ भी तृप्ति हो सकी तो मैं गुरुकुल की इस भेंट को सार्थक समझूंगा।

"नौका" के इस दूसरे भाग का स्वाध्याय आरम्भ करने से पहले आपको इसके प्रथम भाग में दी गई भूमिका को एक बार फिर ध्यान से पढ़ लेना चाहिये।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

विषय-सूची

ओ३म्

वरुण की नौका

सप्तम सूक्त

(ऋग्० ७।८८)

उस की स्तुति कर तू शुद्ध हो जावेगा

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठाम्,
मतिं वसिष्ठ मीढुषे भरस्व ।
य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रम्,
सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम् ॥१॥

अर्थ—(वसिष्ठ) हे यम नियमादि उत्तम गुणों को अपने भीतर बसाने वाले उपासक (मीढुषे) अनेक सुखों की वर्षा करने वाले (वरुणाय) सब के वरणीय और बचाने वाले भगवान् की (शुन्ध्युवं) तुझे शुद्ध करने वाली (प्रेष्ठां) प्यारी (मतिं)

मनन पूर्वक स्तुति (प्रभरस्व) कर (यः) जो वरुण भगवान् (यजत्रं) संगति करने योग्य और तरह-तरह का दान देने वाले (सहस्रामघं) हजारों प्रकार का ऐश्वर्य देने वाले (वृषणं) वर्षा करने वाले (बृहन्तं) महान् (ईम्) इसको अर्थात् सूर्य को अथवा जल को (अर्वाञ्चं) इस पृथिवी को लक्ष्य करके प्रकाशित होने वाला अथवा बरसने और बहने वाला (करते) बनाता है।

हे कल्याण चाहने वाले तू भगवान् की स्तुति कर, उसकी उपासना कर। उसकी स्तुति शुद्ध करने वाली है, वह तुझे भी शुद्ध कर देगी। और जो शुद्ध हो गया, जिसने अपने आत्मा पर से पाप का मैल उतार दिया, उसके लिये कल्याण का मार्ग खुल जाता है। हमें कल्याण इसीलिये नहीं मिलता कि हम अशुद्ध रहते हैं, पाप के मैल से ढके रहते हैं। पर भगवान् की वह स्तुति 'मति'—मनन पूर्वक विचार पूर्वक की हुई— होनी चाहिये। और 'प्रेष्ठा'—प्यारी प्रेम से भरी हुई—होनी चाहिये। जब हम प्रेम में भरकर विचार पूर्वक भगवान् की स्तुति करेंगे तो वह स्तुति हमें शुद्ध कर देगी—हमारे आत्मा के मैल को धो देगी। क्योंकि यह नियम है कि हम जिस किसी से भी प्रेम में भर कर उसके गुणों पर विचार किया करते हैं उसी के गुण हमारे अन्दर आ जाया करते हैं—हम उस जैसे बन जाया करते हैं। जब हम भगवान् से प्रेम में भर कर उसके गुणों पर विचार करेंगे तो उनके गुण हमारे अन्दर आ जायेंगे, हम अपने छोटे क्षेत्र में उन्हीं जैसे बन जायेंगे। वे शुद्ध हैं, निष्पाप, निर्मल हैं। हम भी शुद्ध, निष्पाप, निर्मल बन जायेंगे। हमें भगवान् की स्तुति करनी चाहिये, क्योंकि वे वरुण हैं। वरुण

करने योग्य हैं। उनमें ऐसे गुण हैं जो हर किसी को वरण करके अपने अन्दर धारण करने चाहियें। उनसे बढ़ कर वरण करने योग्य गुण किसी में नहीं हैं। इसलिये उनकी स्तुति से ही हम उनके सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ गुणों को धारण करके स्वयं भी सर्व-श्रेष्ठ बन जायेंगे। इस प्रकार प्रेमभरी, विचारपूर्वक स्तुति से आराधित वरणीय भगवान् हमें पाप से निवारण करने वाले बन जाते हैं। इन वरणीय भगवान् के गुणों को अपने अन्दर बसा कर जो वसिष्ठ बन जाता है वस्तुतः उसी की स्तुति और उपासना सार्थक है, उसी की भगवदाराधना शुद्ध करने वाली बनती है। ऐसा वसिष्ठ ही निर्मल और निष्पाप बनता है। जो भक्त इस प्रकार का आराधक बन जाता है उसके लिये भगवान् 'मीढ्वान्' बन जाते हैं—सब मंगलों की वर्षा करने वाले बन जाते हैं। उसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं रहता, कोई अभाव उसे दुःखी नहीं करता। वह सुख ही सुख में रहता है।

वे भगवान् हमारे लिये एक नहीं अनेक प्रकार से "मीढ्वान्" हैं। वे अनेक प्रकार से हमारे ऊपर मंगल बरसाते हैं। उदाहरण के लिये इस 'ईम्'—सूर्य को देखो। यह कितना 'बृहत' है—कितना महान् है। कितना 'वृषा' है—अपने प्रकाश और ताप के द्वारा कितने प्रकार के कल्याणों की हमारे लिये वर्षा करता है। यह एक नहीं सहस्रों प्रकार के ऐश्वर्य हमें देता है—यह 'सहस्रा-मघ' है। यह 'यजत्र' है। संसार के यज्ञ, सारे व्यवहार, इसी से चलते हैं। संसार के पदार्थों का व्यवहारोपयोगी संगतीकरण इसी

की बदौलत होता है। यदि सूर्य न हो, न अन्न-फल पक सकें, न जगत् में नीरोगता रह सके, न वनस्पति उग सकें और न कोई प्राणी जीवित रह सके। इस सहस्रामघ और वृषा महान सूर्य को पृथिवी पर चमकने वाला उसी 'मीढ्वान्' वरुण भगवान् ने बनाया है। 'ईम्' का अर्थ जल भी होता है। जल भी अपने गुणों के कारण बड़ा महान् है। वह भी वृषा है, हमारे लिये अनेक सुख बरसाता है। वह भी सहस्रामघ है—हजारों प्रकार के ऐश्वर्य हमें देता है। वह भी यजत्र है, संसार के अनेक यज्ञ—अनेक व्यवहार—उससे चलते हैं। यह जल भी तो उसी मंगलों के वर्षक 'मीढ्वान्' भगवान् की कृपा से ही हमें सुख देने के लिये धरती माता की छाती पर अनवरत रूप से बह रहा है।

हम उस मंगलवर्षक 'मीढ्वान्' भगवान् की स्तुति न करें और किस की करें ? कल्याण के अभिलाषी हे मेरे आत्मा ! तू उसी की शरण में जा।

मैंने अग्नि की सेनाओं का दर्शन कर लिया है।

अधा न्वस्य संदृशं जगन्वान्,
अग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽ-
भि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥२॥

अर्थ—(अधा) अब (अस्य) इस वरुण भगवान के (संदृशं) दर्शन को (जगन्वान्) पाकर (वरुणस्य) वरुण भग-

वान् का (अग्नेः) जो अग्नि का (अनीकं) सैन्य है उसे (नु) निश्चय से (मंसि) मैं समझने लग गया हूँ (अधिपाः) सब की रक्षा करने वाले (अन्धः) सबमें प्राण धारण करने वाले हे वरुण भगवान् ! (अश्मन्) फैले हुए इस संसार में (यत्) जो (स्वः) सुख पहुँचाने वाला (वपुः) स्वरूप है उसे (मा) मुझे (अभि निनीयात्) दीजिये (दृशये) लोगों के देखने के लिये।

भगवान् वरुण हैं। वे सब के वरणीय हैं मनुष्य के जीवन का लक्ष्य—परम लक्ष्य—उन्हीं को प्राप्त करना है। मनुष्य के हृदय में – मनुष्य के ही क्यों, प्राणिमात्र के हृदय में—जो एक निरन्तरस्थायी और सततगामी सुख को प्राप्त करने की इच्छा है, ऐसे सुख को जिसमें दुःख का अणु-मात्र लेश भी किसी क्षण में न होगा, उसकी वह इच्छा विना भगवान् का साक्षात्कार किये पूरी नहीं हो सकती। मोक्षपद में पहुँच कर भगवान् को प्राप्त करके ही हमारी वह इच्छा पूरी हो सकती है। भगवान् सब को बचाने वाले हैं इस लिये भी वरुण हैं। भगवान् हमें अनेक प्रकार से बचाते हैं। सृष्टि के प्रारंभ में हमें धर्म का, कर्तव्य का, सही मार्ग बताने के लिये भगवान् ने वेद के सूर्य का प्रकाश किया। वेद का एक एक मन्त्र इस सूर्य की एक-एक किरण है। यदि हम वेदसूर्य की एक किरण से भी अपने हृदय को आलोकित करलें तो हमारा बडा कल्याण हो सकता है। हम पाप के, अधर्म के, गढ़े में गिरने से बच सकते हैं। प्रभु से अपना

सम्बन्ध जोड़ने वालों को समयान्तर में भी उनको कुमार्ग से बचाने वाली प्रेरणायें प्राप्त होती रहती हैं। भौतिक क्षेत्र में भी भगवान् हमें अपने सूर्य, चन्द्र, वायु आदि की शक्तियों द्वारा सम्पन्न करके दुर्गति से बचाते रहते हैं। हम ही अपनी आँखें बन्द करके यदि भगवान् की चेतावनियों को न सुनें तो यह हमारा दोष है।

ऐसे वरणीय भगवान् के दर्शन कर लेने से मनुष्य की आँखें खुल जाती हैं। उसे संसार में पग-पग पर उस भगवान् की अग्नि की सेनायें फैली हुई नज़र आने लगती हैं। अग्नि का शाब्दिक अर्थ है जीवन के लिये आवश्यक गरमी और प्रकाश देकर आगे ले जानेवाला। संसार में हमारे जीवन के लिए परमावश्यक ऐसे अग्नि पदार्थों की सेनाओं की सेनायें पड़ी हुई हैं। जरा सा गहरा विचार करने की आवश्यकता है। वह विचार कीजिए और ये अग्नि की सेनायें हमें स्पष्ट अनुभवात्मक रूप में दीखने लगेंगी। और हमें स्पष्ट अनुभव होने लगेगा कि इन सब अग्नियों के नीचे भगवान् की सत्ता काम कर रही है। उसकी सत्ता के बिना ये अग्नि रह ही नहीं सकते थे, जीवन के लिये गरमी और प्रकाश दे सकना तो दूर की बात है। ऐसे विचारक को भगवान् की इन अग्नि की सेनाओं का अनुभवात्मक ज्ञान तो होने ही लगता है उसे यह भी अनुभव होने लगता है कि ये सब अग्नियें एक दृष्टि से भगवान् का रूप हैं क्योंकि इन्हें कार्य करने की शक्ति उसी से प्राप्त होती है। वह सारे संसार में एक विशेष आध्यात्मिकता अनुभव करने लगता है।

इस स्थिति में पहुँचने पर उसे सूर्य के प्रकाश की भांति उज्जवल रूप में दीखने लगता है कि भगवान् ही "अधिपा" —सब से बढ़ कर सब की रक्षा करने वाले—और वे ही "अन्धः"—सब का प्राण देने वाले—हैं। "अन्धः" का अर्थ अन्न या भोजन भी होता है। क्योंकि उसके खाने से प्राणों का धारण होता है—हम जीते रह सकते हैं। भगवान् के साक्षात्कार की अवस्था में पहुँचे हुए साधक को भगवान् सचमुच विश्व-ब्रह्माण्ड का एक "अन्ध"— एक परम तात्त्विक भोजन—प्रतीत होने लगते हैं। जिसके खाने से, जिसके सेवन से, जिस के अनुभवात्मक दर्शन से ही असल में प्राण, असल में जीवन प्राप्त हो सकता है। जिस जीवन में भगवान् की सत्ता नहीं, वह असल में जीवन ही नहीं है।

इस प्रकार के परमात्मदर्शी साधक को एक ऐसा स्वरूप प्राप्त हो जाता है जो "स्वः" होता है—स्वयं परम सुख से भरा हुआ और अपने सम्पर्क में आने वालों को सुख से, कल्याण से, भर देने वाला। ऐसे "स्वः" युक्त स्वरूप वाले व्यक्ति को संसार के लोग देखते हैं, और कहते हैं कि जीवन हो तो ऐसा हो। दूर-दूर से लोग उसके दर्शनों की लालसा से आते हैं, और, उसके इह-लोक की लीला संवरण कर लेने पर सोच-सोच कर पछताते हैं कि हाय, हम उस महापुरुष के जीवन काल में क्यों न हुए, हम उसके दर्शन तो कर लेते।

हे मेरे आत्मा! क्या तुम भी किसी दिन मन्त्र के भक्त के स्वर में स्वर मिला कर कह सकोगे कि मैंने प्रभु के अग्नि सैन्य का दर्शन कर लिया है?

वरुण की नौका

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावम्,
प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव,
प्र प्रेंख ईंखयावहै शुभे कम् ॥३॥

अर्थ—(यत्) जब (वरुणः) सबका वरणीय और सब को बचाने वाला भगवान् (च) और [मैं उपासक] (नावं) एक नौका पर (आ रुहाव) दोनों चढ़ जाते हैं (यत्) जब उस नौका को (समुद्रम्) समुद्र के (मध्यं) मध्य में (प्र-ईरयाव) हम छोड़ देते हैं, और तब (यत्) जो (अपां) समुद्र के जलों की (स्नुभिः) तरंगों से (अधि चराव) उन पर चढ़ कर हम खेलते हैं, तब, (प्रेंखे) मैं खूब झूलता हूँ (शुभे) संसार के भले के निमित्त (कम्) उसके सुख के लिये (प्रेंखयावहै) तब हम दोनों खूब झूल कर प्रयत्न करते हैं।

यह हमारा मनुष्य जीवन ही एक नौका है। नौका का शाब्दिक अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाली।

नदी और समुद्र में चलने वाली नौका इसीलिए नौका है कि वह हमें एक किनारे से दूसरे किनारे पर ले जाती है। हमारा जीवन भी हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। इस लिये वह भी एक नौका ही है। नौका के द्वारा हम अनेक प्रकार की भोग्य वस्तुएं ढो कर लाते हैं। इस जीवन के द्वारा भी हम अपने आत्मा के लिये अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोग ढो कर लाते हैं। धर्मा-धर्म के संस्कार भी हमारे आत्मा पर इस जीवन-नौका के द्वारा ही ढोकर लादे जाते हैं। किसी भी दृष्टि से देखें हमारा मनुष्य-जीवन हमारे लिये नौका है। यह जीवन-नौका हमें वरणीय भगवान् की कृपा से प्राप्त होती है। वरुण भगवान् की कृपा से हमें मिलने वाली यह नौका वस्तुतः उसी की है। वरुण ने यह नौका हमें संसार-समुद्र तरने के लिये दी है। यदि हम इससे लाभ न उठायेंगे और इसका दुरुपयोग करेंगे तो वरुण भगवान् अगले जन्म में हमसे यह अपनी नौका छीन भी लेंगे। हमें मनुष्य योनि से हटा देंगे। वरुण की दी हुई इस नौका में चिरंतन यात्री हमारा आत्मा चढ़ा हुआ है। जब भगवान् का साक्षात्कार होकर हमारे हृदय में उनके दर्शन हो जाते हैं तो मानों भगवान् भी हमारी इस नौका पर चढ़ जाते हैं। यह जीवन-नौका हमें इस लिये मिली है कि हम इसकी सहायता से संसार समुद्र को तर जायें और मोक्ष-सुख के भागी बनें। परमात्मा हमें यों ही मोक्ष-सुख नहीं चखा देते। हमारे द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी जाने पर ही हमें प्रभु मोक्ष-सुख देते हैं। योग्यता प्रमाणित करने के लिये हमें संसार समुद्र में भेजा जाता है। यदि हम इस समुद्र को अपने

शुभ कर्मों की सहायता से तरने में समर्थ हो गये तब तो हम मोक्ष-सुख के अधिकारी हो जायेंगे। और यदि हम यहां आकर अशुभ कर्मों में ही लिप्त रहे तो हमें इसी समुद्र में डूबते रहना होगा। मोक्ष-सुख अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार-समुद्र को तैर कर जीता जाता है। समुद्र का शाब्दिक अर्थ है जिसकी ओर दौड़कर जाते हैं। समुद्र की ओर सब नदियों के जल दौड़ कर जाते हैं इसीलिये उसे समुद्र कहते हैं। समुद्र का एक अर्थ यह भी है कि जिससे दौड़ कर जाते हैं। सूर्य की गर्मी से तप कर समुद्र के जल उससे उठ कर आकाश में उड़ जाते हैं। यह ससार भी इसी तरह का एक समुद्र है। अज्ञानी जन इसके विषयों की ओर—इसकी लुभावनी चमक-दमक की ओर—अंधे हो कर दौड़े जाते हैं। और ज्ञानी जन इससे जितना चाहिये उतना लाभ लेकर अन्त में इससे हट कर मोक्ष-धाम में चले जाते हैं। समुद्र में जैसे तरंगें उठा करती हैं इसी भांति इस संसार-समुद्र में भी तरंगें उठा करती हैं। इसमें मनुष्य के सम्मुख आने वाले भांति-भांति के विषय और तरह-तरह की समस्यायें ही तरंगे हैं। जब तक मनुष्य को भगवान् के दर्शन नहीं हो जाते और उनकी पवित्र प्रेरणा में वह चलना नहीं सीखता तब तक उसे इस ससार-समुद्र की तरंगों के खूब थपेड़े खाने पड़ते हैं। वह उनकी बेहोश कर देने वाली मार के नीचे बुरी तरह आता है। उसे नहीं सूझता कि वह अपनी नौका को इस समुद्र के परले पार कैसे ले जावे। पर जब उसकी नौका पर भगवान् भी आ बैठते हैं—जब उसे भगवान् के दर्शन हो जाते हैं—और वह उनकी पवित्र प्रेरणा

में अपनी किश्ती चलाने लगता है तब वह इस समुद्र की भयङ्कर-से-भयङ्कर तरङ्गों से भी नहीं घबराता। वह उनकी मार में नहीं आता वह तो उन पर चढ़कर—उन पर सवार होकर—खेलता और झूलता है। अब वह तरङ्गों की लपेट में नहीं आसकता अब तो उसकी नैया पार निकल जायेगी। न केवल उसे अब अपनी नौका के भाग्य और भविष्य के बारे में कोई सन्देह नहीं रह जाता प्रत्युत वह औरों की नौकाओं को भी पार लगाने के काम में लग जाता है—उनके भले और सुख की बातें सोचने और करने लग जाता है। और इस पवित्र कर्म में उसकी नौका पर बैठे हुए भगवान् उसकी सहायता और मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। वह अपने को अकेला नहीं अनुभव करता। दूसरों की नौकाओं को पार ले जाने के काम में उसे भगवान् अपने साथ लगे हुए प्रतीत होते हैं। इसीलिये मन्त्र में 'प्रेंखयावहै" यह द्विवचन की क्रिया प्रयुक्त की गई है। जिस धातु से यह क्रिया-रूप बनता है उसका अर्थ झूलना भी होता है और उत्कृष्ट गति, चेष्टा अर्थात् उत्कृष्ट प्रयत्न करना भी होता है। इसीलिये हमने दोनों भावों को मिलाकर, हम 'झूल कर प्रयत्न करते हैं' ऐसा अर्थ कर दिया है। भाव यह है कि जिस व्यक्ति को भगवान् का सहारा मिल जाता है वह परोपकार के कामों में भारी से भारी प्रयत्न करता हुआ भी उस प्रयत्न के भार से दबता नहीं। और यदि उसे कभी अपने प्रयत्नों में कुछ समय के लिये सफलता न भी मिले तो भी उसे निराशा या चिन्ता नहीं दबाती। उसके मन में सदा ऐसी निश्चिन्तता और प्रसन्नता रहती है जैसी एक झूला झूलने वाले के मन में रहा करती है।

ऊपर व्याख्या में हमने मनुष्य जीवन को नौका और भगवान् के साक्षात्कार को उस नौका में प्रभु का आ बैठना ऐसा कहा है। प्रभु का साक्षात्कार हो जाना ही नौका है। यह साक्षात्कार हो जाने पर मानो भक्त और भगवान् एक ही नौका पर चढ़ बैठते हैं। भगवान् के दर्शन से भगवद्दर्शनरूप भगवान् की नौका संसार से पार होने के लिये भक्त को मिल जाती है। ऐसी व्याख्या भी हो सकती है। दोनों व्याख्याओं का अन्तिम अर्थ एक ही है।

हे मेरे आत्मा! तू अपनी नौका पर भगवान् को बिठाने वाला बन। फिर तेरा कल्याण ही कल्याण है।

वरुण भगवान् सच्चे भक्त को नौका पर चढ़ा देते हैं

वसिष्ठं हि वरुणो नाव्याधा-
दृषिं चकार स्वपा महोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नाम्,
यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः ॥४॥

अर्थ—(वरुणः) वरुण भगवान् (वसिष्ठं) भगवान् के यम-नियमादि उत्तम गुणों को अपने में बसाने वाले उपासक को (नावि) नौका पर (आधात्) चढ़ा देता है (स्वपाः) अपनों की रक्षा करने वाला वह भगवान् (महोभिः) अपने पूजनीय तेज से (ऋषिं) उसे ऋषि (चकार) बना देता है (यात्) चलते हुए (द्यावः) दिनों और (यात्) चलती हुई (उषासः) उषाओं को

(ततनन् विस्तारित करने वाला विद्रः वह ज्ञानी भगवान् (स्तोतारं) अपने उपासक को (अहाम) दिनों के (सुदिनत्वे) सुदिनत्व में रख देता है, अर्थात् उसके दिन सुदिन बना देता है।

गत मन्त्र में हम देख आये हैं कि संसार-समुद्र को तरने के लिये हमें यह मनुष्य-जीवनरूपी नौका दी गई है। यदि हम इस नौका पर बैठ कर शुभ कर्मों के चप्पू चलाते हुए संसार-समुद्र को पार करके मोक्ष-धाम के अधिकारी बन गये तभी हमारे मानव जीवन की सफलता है। अब यह जीवनरूपी नौका मिली तो हम में से प्रत्येक को है, पर इस पर असल में चढ़ता कोई-कोई है। नौका का हमारे पास होना एक बात है और उस पर चढ़ना, उससे यथार्थ में लाभ उठाना, दूसरी बात है। हम में से अधिकांश उस नौका पर चढ़ते नहीं हैं—उससे जैसा चाहिये लाभ नहीं उठाते हैं। प्रत्युत कहना यह चाहिए कि हम में से अधिकांश पर तो नौका चढ़ी रहती है। नौका हमारे वश में नहीं होती, हम नौका के वश में होते हैं भला जिस समुद्र यात्री की नौका उसके वश में न हो प्रत्युत वह स्वयं नौका के वश में हो उससे कौन आशा कर सकता है कि वह समुद्र को पार कर लेगा। समुद्र को पार करने के लिये नौका को वश में करना होगा, उसे अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने की सामर्थ्य उत्पन्न करनी होगी, उस पर असल में चढ़ना होगा।

वरुण भगवान् की, सबके वरणीय और सब को बचाने वाले प्रभु की, उपसना करने से वे हमें इस नौका पर चढ़ा देते हैं। उनकी उपासना से हम में वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे

हमारी जीवन-नौका हमारे वश में रहती है, हम उसके स्वामी होते हैं, वह हमारी स्वामिनी नहीं होती। हम जब अपनी किसी इन्द्रिय को किसी विषय में लगाना चाहें तभी वह उधर लग सकेगी। उसमें यह सामर्थ्य नहीं रह जायगा कि वह हमारी इच्छा के विरुद्ध भी केवल रस लालसा के कारण, किसी विषय की ओर हमें खेंच कर ले जाये परन्तु वही उपासक भगवान् की उपासना करके इस नौका पर चढ़ने की शक्ति प्राप्त करता है जो भगवान् के गुणों का, उनके हरे प्रेम में भरकर अपने अन्दर संक्रमण कर लेता है—जो वसिष्ठ बन जाता है। जो उपासना करके भी वसिष्ठ नहीं बना, जिसने भगवान् के गुणों का गान करके भी उनके गुणों को अपने भीतर धारण नहीं किया, उसमें अपनी जीवन-नौका को वश में रखने की शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती और वह संसार-समुद्र की विषय-लहरों के थपेड़े खा कर इसी की भंवरों में भटकता और डूबता-उतराता रहेगा। जो भगवान् की उपासना द्वारा उसके गुणों को अपने अन्दर धारण कर लेता है और इस प्रकार अपने को एक तत्त्वदर्शी— असलियत पहचानने वाला 'ऋषि' बना लेता है वह भगवान का 'स्व' हो जाता है—उनका अपना हो जाता है, क्योंकि भगवान् के अपने गुण उसमें आ गए। और भगवान् 'स्वपा' हैं—अपने की रक्षा करने वाले हैं। इसलिये वे इस अपने उपासक की भी रक्षा करते हैं। गत मन्त्र में जैसा कि कहा गया है, अपने उपासक की रक्षा करने के लिये भगवान् उसकी नौका पर आ चढ़ बैठते हैं—उसे अपने दर्शन दे देते हैं। उनका दर्शन पाकर, उनका अनुभवात्मक साक्षात्कार करके उपासक के

मानस चक्षु पूर्ण रीति से खुल जाते हैं। वह भगवान् की प्रेरणा में रहने लगता है। तब उसे संसार-समुद्र की विषय तरंगे बिल्कुल भटका नहीं सकतीं। वह उनसे उपयोग लेता हुआ उन में से अपनी नौका को पार ले जाने में सर्वथा समर्थ हो जाता है। भगवान् की कृपा से ऐसे उपासक के दिन सुदिन हो जाते हैं।

मन्त्र में कहा गया है कि वरणीय भगवान् अपने भक्त को ऋषि बना देते हैं। जो साधक "वसिष्ठ" बन जाता है—भगवान् के गुणों को पूर्ण रीति से अपने में बसा लेता है उसे प्रभु सचमुच ऋषि बना देते हैं। उस पर प्रभु की कृपा होती है और वह एक ऋषि, प्रत्येक बात के रहस्य को समझने वाला तत्त्वदर्शी महात्मा, बन जाता है।

हे मेरे आत्मा! तू भी उसकी उपासना करके ऋषि बन, और अपने दिन सुदिन बना।

—:०:—

मैं तो भगवान् के घर में जाऊंगा

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः,
सचावहे यदवृकं पुराचित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः,
सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥५॥

अर्थ—(वरुण) हे वरुण (त्यानि) वे (नौ) हम दोनों के (सख्या) सखि-भाव (क्व) कहां (बभूवुः) हो गये? (पुराचित्) पहले (यद्) जो (अवृकं) अटूट सखि-भाव हमारा

था (सचावहे) उसे हम फिर प्राप्त कर लें, हे (स्वधावः) सामर्थ्य देने वाले (ते) तेरा जो (बृहन्तं) बहुत बड़ा (मानं) सब भूतों को अपने में समा लेने वाला (सहस्रद्वारं) सहस्रों द्वारों वाला (गृहं) घर है (जगम) उसमें मैं प्राप्त हो जाऊं।

जो उपासक सूक्त के पूर्ववर्णित चारों मन्त्रों के अनुसार अपने जीवन को ढाल लेते हैं, जो इनमें कहे अनुसार वरणीय भगवान को अपनी जीवन नौका पर बिठा लेते हैं अथवा भगवान् के दर्शन करके स्वयं मानों भगवान की नौका पर बैठ जाते हैं, उनका भगवान् से सखि-भाव हो जाता है। उनकी भगवान् से मित्रता हो जाती है। इस सखि-भाव, इस मित्रता, के कारण उनका भगवान् के घर में प्रवेश हो जाता है। अर्थात् वे मोक्षधाम में पहुँच जाते हैं। मित्र का मित्र के घर में खुला प्रवेश होना स्वाभाविक ही है। जब हम भगवान के मित्र हो गये तो हमारा उसके घर में निर्बाध प्रवेश होना ही था। भगवान् का घर, उनके रहने की स्थिति, उनकी निरतिशय आनन्द की अवस्था है जिसमें वे सनातन काल से रहते आ रहे हैं, जिस अवस्था को हम अपने शब्दों में मोक्षधाम कहते हैं। हम भगवान् के मित्र होकर इसी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

इस मोक्ष की अवस्था को हमने इस अनादि सृष्टि-चक्र में न जाने कितनी वार प्राप्त किया है। परन्तु जब मोक्ष की अवस्था को समाप्त कर के हम पुनः संसार में आ जाते हैं तो हम प्रायः इस बात को भूल जाते हैं कि हमारा भगवान् से गहरी मित्रता

का नाता रह चुका है और हम मोक्षधाम के अधिवासी बन चुके हैं। पर जब हम वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय करके और सद्गुरुओं की संगति में बैठ कर फिर से भगवान् की मित्रता प्राप्त करने के मार्ग पर चलने लगते हैं तो हमारी वह पुरानी स्मृति फिर जाग उठती है। और हम भगवान् की मित्रता प्राप्त करके उसके घर में, मोक्षधाम में, पहुँचने के लिये लालायित हो उठते हैं। इसी लालायित अवस्था का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है।

उपासक परम उत्कण्ठा के वश में होकर भगवान् से बातें करने लगता है। वह कहने लगता है—हे भगवान् पहले तो मेरा और आपका बड़ा सखि-भाव था, हमारी बड़ी मित्रता थी। वे हमारी सारी मित्रतायें कहां चली गईं? मैं आपसे अलग कैसे हो गया? हे भगवान् इतने दिन तक तो मैं आप से अलग रह लिया सो रह लिया। अब और मैं आपसे अलग नहीं रह सकता। अब तो मैं हमारा जो अटूट सखि-भाव है—जो केवल अज्ञान के कारण ओझल हो जाता है—उसे प्राप्त करके रहूँगा। और आपके साथ इस घनिष्ठ सखि-भाव के फल स्वरूप मैं आपके सहस्रों द्वार वाले घर में घुस कर रहूँगा। मन्त्र में मोक्षावस्था को सहस्रद्वार वाला घर इसलिये कहा है कि सत्य की सहस्रों शाखायें हैं। उनमें से किसी एक शाखा को भी मनोयोग पूर्वक पकड़ने से, उसके अनुसार पूर्ण रूप से जीवन व्यतीत करने से—योग दर्शन के शब्दों में उसकी 'प्रतिष्ठा' कर लेने से—हमारे लिये मोक्ष का द्वार खुल जाता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय,

ब्रह्मचर्य आदि जो सत्य के अनेक अंग हैं उनमें से किसी एक की भी हमारे अन्दर पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने से हमें मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। क्योंकि इनमें से किसी एक की पूर्ण सिद्धि हो जाने पर दूसरों की सिद्धि स्वयं ही हो जाती है। अपनी रुचि के अनुसार पहले किसी एक को पकड़ कर उसे पूर्ण रीति से सिद्ध करने में लग जाइये दूसरों की सिद्धि अपने आप साथ-साथ होने लग पड़ेगी।

पाठक यह भी देखेंगे कि इस मन्त्र में मोक्ष से पुनरावृत्ति की स्पष्ट सूचना है। इसके लिये मन्त्र का शब्दार्थ एक बार फिर ध्यान से पढ़िये।

हे मेरे आत्मा! भगवान् से मित्रता कर के उसके घर में जाने योग्य बन।

—:o:—

हमारा सदा का मित्र

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्,
त्वामागांसि कृणवत् सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम,
यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(वरुण) हे भगवान् वरुण (यः) जो मैं तेरा उपासक (नित्यः) सदा का (ते) तेरा (आपिः) बन्धु और (प्रियः) प्यारा (सखा) मित्र (सन्) होकर भी (त्वाम्) तेरे

प्रति (आगांसि) पापों को (कृणवत्) कर देता हूँ, ऐसे (एनस्वन्तः) पापी हम लोग (यक्षिन्) हे पूजनीय रूप वाले (ते) तेरे भोगों को (मा) न (भुजेम) भोगें [अर्थात् निष्पाप होकर ही आप की कृपाओं का सुख हम भोगें] (विप्रः) हे ज्ञान के भंडार आप स्तुवते) मुझ भक्त के लिये (वरूथम्) वरणीय अपने स्वरूप को (यन्धि) दीजिये ।

हमारा और भगवान् का नित्य काल से प्रिय, बन्धु और मित्र का सम्बन्ध चला आ रहा है। परन्तु जब हम अज्ञान में पड़ कर भगवान् की उपासना छोड़ देते हैं और जब इसीलिये हमें भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता तो हम अनेक प्रकार के पाप करने लग जाते हैं। उन पापों के फलस्वरूप हमें भगवान् अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। पर इस प्रकार दुःखसहित होने पर भी हमें यह नहीं समझ बैठना चाहिये कि भगवान् की हमारे साथ प्रेममयी बन्धुता नहीं रही। भगवान् जो हमें हमारे पापों का फल दुःख देते हैं उस में भी उन की हमारे प्रति दया ही काम कर रही होती है। हम अपने जीवन के दुःखों पर विचार करें और सोचें कि यह दुःख हमारे किसी न किसी पाप का फल है, इस लिए दुःख से बचने के लिये हमें सभी पापाचरण छोड़ देने चाहियें, न जाने किस पाप का क्या फल मिल जाये। इस प्रकार विचार द्वारा सभी पापाचरण छोड़ कर हमारा आत्मा निर्मल हो जाता है। आत्मा के निर्मल होने का फल मोक्ष अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्ति होता है। इस भांति हमारे दुःख में भी हम पर भगवान् की दया ही हो रही होती है।

परन्तु जब तक हम पापाचरण नहीं छोड़ते हैं तब तक हमें भगवान् के आनन्द का उपभोग प्राप्त नहीं हो सकता। तब तक हमें पाप का फल दुःख ही प्राप्त होगा। और हम भूल से यह समझते रहे हैं कि शायद भगवान ने हमारी मित्रता ही छोड़ दी है। पाप से छूटने, दुःख से बचने और ब्रह्मानन्द रस का उपभोग करने के लिये आवश्यक है कि हम भगवान् की स्तुति करके उस के वरणीय स्वरूप को पहचानें। इसके लिये हमारी स्तुति सही प्रकार की होनी चाहिये। वह प्रकार ऊपर के मन्त्रों में भली भांति बताया गया है।

मन्त्र में एक भाव और दिया गया है। वह यह कि यद्यपि हम भगवान् के मित्र हैं तो भी—यदि हम पापाचरण करेंगे तो हम पापियों को भगवान् के आनन्दस्वरूप का उपभोग नहीं मिल सकता। हमें पाप का फल दुःख ही मिलेगा। भगवान् किसी भी पूर्वकृत पाप को क्षमा नहीं करते हैं। किये का फल तो भोगना ही होगा।

हे मेरे आत्मा! तू भगवान् का सदा का मित्र है। अपने उस चिरमित्र के वरणीय गुणों का चिन्तन कर के अपनेको निष्पाप करले तभी तुझे आनन्द मिलेगा।
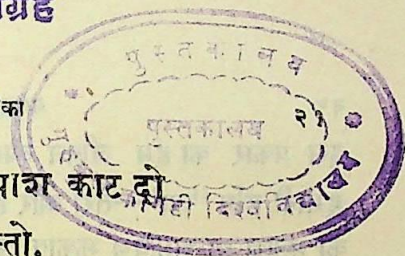
भगवान् हमारे पाश काट दो

ध्रुवासु त्वा क्षितिषु क्षियन्तो,
व्यस्मत्पाशं वरुणो मुमोचत्।

अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद्,
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

अर्थ—हे भगवन् (आसु) इन (ध्रुवासु) स्थिर (क्षितिषु) भूमियों पर (क्षियन्तः) निवास करते हुए हम (त्वा) तेरी [उपासना करते हैं] (वरुणः) आप वरणीय भगवान् (पाशं) बन्धनों को (अस्मात्) हम से (वि मुमोचत्) परे कर दीजिये (अदितेः) अखण्डनीय प्रकृति माता के (उपस्थात्) गोद में से (अवः) रक्षा— कल्याण (वन्वानाः) प्राप्त करने वाले [हम बन जायें] (यूयं) हे वरुण आप (नः) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणों द्वारा (सदा) सदा (पात) रक्षा कीजिये।

ये जो लोक लोकान्तरों की भूमियें प्रभु ने हमारे रहने के लिये बनाई हैं वे सब ध्रुवा हैं। इन्हें ध्रुवा इसलिये कहा जाता है कि इनमें स्थिरता है। ये सब चिरकाल तक प्रभु द्वारा नियत अपने कार्य को करती रहती हैं। और जो कार्य इन्हें सौंपा गया है उसे भी स्थिरता पूर्वक करती रहती हैं—उस में किसी प्रकार का व्याघात नहीं आने देतीं। इन ध्रुवा भूमियों पर हम रहते हैं। इस कथन की ध्वनि यह है कि हमारे जीवन में भी ध्रुवता है। हम भी अपने कर्तव्यों का स्थिरतापूर्वक पालन करते हैं और हमारी आयुयें भी लम्बी हैं जिनमें हम उन कर्तव्यों का स्थिरतापूर्वक पालन करते हैं।

इस प्रकार का हम जीवन व्यतीत करते हैं। उसमें हे भगवन्! हमारी दृष्टि "त्वा"—तेरी ओर ही रहती है। हमारे प्रत्येक कर्तव्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष झुकाव आपकी ओर ही रहता है। हमारे सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों का निचोड़ आप हैं—आपकी उपासना है। यदि कोई कर्म ऐसा होगा जो हमें आप से परे हटाता होगा, तो हमें वह काम अच्छा नहीं लगेगा। हम उसे त्याग देंगे। हमारा समग्र जीवन ही आप के प्रति है—आप की सजीव उपासना है। भगवन्! हम आपकी ऐसे मनोयोग से उपासना कर रहे हैं। आप कृपा करके हमारे सब प्रकार के पाशों को—बन्धनों को—काट दीजिये। जिस से हमें 'अवः' प्राप्त हो सके—सच्ची रक्षा, सच्चा कल्याण प्राप्त हो सके। जिससे प्रकृति माता से बने इस संसार की गोद में रहते हुए कोई भी बन्धन हमें किसी प्रकार का दुःख न दे सके। हमें सब कहीं से कल्याणमयी रक्षा ही प्राप्त हो।

केवल भगवान् से ऊपर के मन से प्रार्थना करने से—उस प्रार्थना से जिसका प्रभाव हमारे चरित्र पर कुछ भी न पड़ता हो—हमारा मंगल नहीं हो सकता, हमारे पाश नहीं कट सकते। इसके लिये हमारे मन के सभी भावों में 'स्वस्ति' होनी चाहिये। कल्याण-मयी पवित्र भावना होनी चाहिये जो हमारी 'अस्ति' को—सत्ता को, जीवन को, 'सु' बना सके, उत्कृष्ट बना सके। जब हमारे मन के सभी भाव हमारे जीवन को 'स्वस्तिमय' बनाने वाले हो जायेंगे तब जो प्रार्थना हम भगवान् से करेंगे वह सार्थक होगी।

हे मेरे आत्मा! तू अपने जीवन को भगवान् की उपासना-मय बना कर स्वस्तिमय, उत्कृष्ट, करले। फिर तेरे बन्धन कट जायेंगे। तुझे मंगल मिलेगा।

अष्टम सूक्त

(ऋग्० ७।८९)

मैं मट्टी के घर में न रहूं

मो षु वरुण मृन्मयम्
गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥१॥

अर्थ—हे (राजन्) हमारे राजा (वरुण) हमें दुर्गति से बचाने वाले और वरण करने योग्य परमात्मन् (अहं) मैं (मृन्मयं) मट्टी से बने हुए (गृहं) घर में (मा-उ) न (सु-गमम्) जाऊँ (मृड) सुखी कीजिये (सुक्षत्र) हे उत्तम रीति से विपत्ति से बचाने वाले शक्तिशाली भगवन् (मृडय) मुझे सुखी कीजिये ।

गत सूक्त के अन्तिम मन्त्र में भक्त ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि हे प्रभो, मुझे सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कीजिये और भांति-भांति के कल्याणों द्वारा मेरी रक्षा कीजिये । प्रस्तुत सूक्त में उसी भाव को प्रकारान्तर से और अधिक विस्तृत रूप में

प्रकट किया गया है और प्रसंग से आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी कई नई बातों का उपदेश कर दिया गया है। ऊपर के सूक्तों में साधक प्रभु की महिमा का अनुभव कर चुका है और उनके विराट रूप की झांकी ले चुका है। वह देख चुका है कि प्रभु का पल्ला पकड़ने से मनुष्य का आत्मा कितना ऊंचा उठ सकता है और कैसी आनन्द और मंगलमय अवस्था में पहुँच जाता है। इसलिये वह प्रस्तुत सूक्त के मन्त्रों में वार-वार "मुझे सुखी कीजिये, मुझे सुखी कीजिये" की रट लगा कर भगवान् से उसी परमानन्दमयी अवस्था में रखने की प्रार्थना करता है।

भगवान् का साक्षात्कार कर लेने पर जो आनन्द अनुभव होता है उसकी तुलना में प्रकृति के बने इस संसार से प्राप्त होने वाले सब सुख मिट्टी के सुख हैं। इसीलिये इस प्रथम मन्त्र में भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो मैं मिट्टी के घर में न रहूं। इस प्राकृतिक जगत् को ही मट्टी का घर मन्त्र में कहा गया है। यह जगत् और इसके विषय मट्टी के—जड़ प्रकृति के—बने हुये हैं। जब यह जगत् ही मट्टी का बना हुआ है तो इससे मिलने वाले सुख भी तो मट्टी के ही होंगे—निकृष्ट श्रेणी के ही होंगे। जगत् से मिलने वाले सुख मट्टी के सुख—निकृष्ट श्रेणी के सुख—इसलिये हैं कि वे चिरस्थायी नहीं होते, क्षणिक होते हैं, और उनका परिणाम दुःखदायी होता है। उनसे सच्चा सन्तोष, सच्ची तृप्ति, सच्ची शान्ति और सच्चा आनन्द, जो सदा स्थिर रहें, नहीं प्राप्त होते। हमें सच्चा सन्तोष, सच्ची तृप्ति, सच्ची शान्ति और सच्चा आनन्द भगवान् के साक्षात्कार से ही प्राप्त होते हैं। भगवान् के

साक्षात्कार से हमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह चिरस्थायी होता है और उसका परिणाम दुःखदायी नहीं होता। इसलिये वह आनन्द संसार के मट्टी के सुखों की तुलना में मानों सुवर्ण का सुख है। भक्त अपने प्रभु से इसी सुनहरे, इसी चिरस्थायी और परम पवित्र ब्रह्मानन्द सुख की प्रार्थना कर रहा है। वह कह रहा है, हे महाराज मुझे संसार रूप मट्टी के घर में न जाने दीजिये, मुझे अपने साक्षात्कार रूप सुवर्ण के घर का स्वामी बनाइये।

मन्त्र के "मैं मट्टी के घर में न जाऊँ" इस वाक्य से संसार को त्यागने की जो भावना सूचित होती है उससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि हमें इस संसार की सर्वथा ही उपेक्षा कर देनी चाहिये और इससे सम्बन्ध रखने वाले विद्या-विज्ञानों में कोई उन्नति नहीं करनी चाहिये। वेद के इस और ऐसे अन्य उपदेशों का यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं है। यदि हम संसार की सर्वथा उपेक्षा कर बैठेंगे तो हमारा जीवन भी नहीं रह सकेगा। हमारी भूख की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। सरदी, गरमी और वर्षा से हमारी रक्षा नहीं हो सकेगी। भांति-भांति के रोग हमें दबोच लेंगे। हम राज्य स्थापित न कर सकेंगे। स्थापित राज्यों की रक्षा न कर सकेंगे और इसलिये शत्रु लोग हमें सदा कष्ट देते रहेंगे। और ऐसी अवस्था में अध्यात्म शास्त्र का अध्ययन भी हमारे लिये असम्भव हो जायेगा। यदि हम संसार की सर्वथा उपेक्षा करदें तो हमें ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब हम भांति-भाति की प्राकृतिक विद्याओं का अध्ययन करते हैं और इनके द्वारा प्रकृति के अद्भुत पदार्थों की सूक्ष्म और

बुद्धिमत्तापूर्ण रचना पर दृष्टिपात करते हैं तभी हमें उनके रचयिता, रक्षक और संचालक परमात्मा का ज्ञान होता है। इसीलिये वेद में जहां अध्यात्म शास्त्र का उपदेश किया गया है वहां राजनीति शास्त्र कृषि शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, पदार्थ विज्ञान आदि अनेक प्राकृतिक और सामाजिक बिषयों का व्यवहारोपयोगी ज्ञान भी बीज रूप में उपदिष्ट कर दिया गया है। अतः हमें ससार की सर्वथा उपेक्षा न करके इसके विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले विद्या-विज्ञानों में भी यथेष्ट उन्नति करनी चाहिये और उनसे जो सुख प्राप्त किया जा सके उसे प्राप्त कर लेना चाहिये। हमें केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम संसार के विषयों में लिप्त हो कर उनमें फंस न जायें।

हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे जीवन का लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। संसार के विषय हमारा लक्ष्य नहीं हैं। ये साधन हैं, साध्य नहीं हैं। साध्य तो ब्रह्म-साक्षात्कार है। जब हम यह स्मरण रखते हुए सांसारिक विषयों का सेवन करेंगे तो हम इनमें लिप्त हो कर फंसेगे नहीं। इनसे केवल आवश्यक उपयोग और सहायता ले लेंगे। तब ये हमारा अनिष्ट न करके हमें शक्ति देने वाले बन जायेंगे। यदि एक मक्खी शहद से भरे कटोरे के किनारे पर बैठ कर शहद में चोंच लगा कर भूख मिटाने और शरीर को पुष्ट करने के लिये जितना आवश्यक है उतना शहद भर के पीले तो यह विषय-सेवन मक्खी का कोई अनिष्ट नहीं करता प्रत्युत उसे लाभ पहुँचाता है,

जीवन देता है। परन्तु यदि वह मक्खी लालच और लोभ में भर कर शहद में ही डूबी रहना चाहे और इसलिये किनारे पर न बैठ कर शहद में ही कूद पड़े तो वह लथपथ हो कर, लिप्त हो कर, शहद में ही फंस जायेगी। वहां से निकल न सकेगी और मर जायेगी। शहद रूप विषय सेवन मक्खी का इष्ट भी कर सकता है और अनिष्ट भी। यदि वह तटस्थ वृत्ति से उसका सेवन करेगी तो लाभ उठायेगी और यदि उसी में तन्मय हो जाने की वृत्ति से सेवन करेगी तो उसी में फंस कर मर जायेगी। इसी प्रकार यदि हम संसार के विभिन्न विषयों को केवल साधन समझ कर तटस्थ वृत्ति से उनका सेवन करेंगे तो वे हमारा लाभ करेंगे। और यदि हम उन्हीं में तन्मय होने की भावना से, उन्हीं को जीवन का लक्ष्य समझ कर, उनका सेवन करेंगे तो हम उनमें फंस जायेंगे और कष्ट भोगेंगे। संसार अपने आप में न अच्छा है न बुरा। हम जिस दृष्टि से उसका सेवन करते हैं वह उसे अच्छा या बुरा—सुवर्ण का या मट्टी का बना देती है। हम में से प्रत्येक जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो ब्रह्म का साक्षात्कार है। ब्रह्म साक्षात्कार के मार्ग में चलते हुये संसार के विषयों का सेवन तो केवल साधन के रूप में ही करना है। यदि इस दृष्टि से संसार को देखा जाय तो वह अच्छा हो जाता है—सुवर्ण का हो जाता है। और यदि संसार के विषयों का रसपान ही हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य है इस दृष्टि से संसार को देखा जाय तो वह कष्ट देने वाला बन जाता है, बुरा हो जाता है—मट्टी का हो जाता है। मन्त्र में मट्टी के संसार को

त्यागने का उपदेश है, सुवर्ण के संसार को ब्रह्म साक्षात्कार के मार्ग में साधन बन रहे संसार को, त्यागने का उपदेश नहीं है। ठीक दृष्टि से भोगा हुआ संसार तो बन्धन का कारण न हो कर मोक्ष का कारण होता है।

हमारा संसार हमारे लिये मट्टी का न होकर सुवर्ण का हो जाये इसके लिये हम और किससे प्रार्थना कर सकते हैं? वरणीय प्रभु ही हमें अपने जगत् को सुवर्ण का बनाने में हमारी सहायता कर सकते हैं। इसलिये मन्त्र में प्रार्थना है कि 'हे वरुण प्रभो! मुझे मट्टी के घर से बचाइये और इस प्रकार हे स्वामिन्! मुझे सुखी कीजिये, आदर्श रूप में सुखी कीजिये"।

भगवान "सुक्षत्र" हैं। "क्षत्र" का अर्थ घाव से, विपत्ति से, रक्षा करने वाला भी होता है और शक्ति और बल भी होता है। भगवान् क्योंकि सब प्रकार के घावों से, सब प्रकार की विपत्तियों से हमारी बहुत अच्छी तरह रक्षा करते हैं इसलिये वे सुक्षत्र हैं और क्योंकि उनमें बहुत उत्तम शक्ति है, वे बड़े बलशाली हैं इसलिये भी वे "सुक्षत्र" हैं। "सुक्षत्र" भगवान् से ही—विपत्तियों से त्राता और शक्ति के पुञ्ज भगवान् से ही—तो हम मट्टी के संसार से बचाने और पूर्ण सुख प्रदान करने की प्रार्थना कर सकते है।

हे मेरे आत्मा! तू भी उस सुक्षत्र प्रभु की शरण में जा और उससे शक्ति पाकर अपने आपको मट्टी के घर से बाहर निकलने योग्य बना।

मैं अहंकार के कारण धौंकनी सा फूला हुआ हूं

यदेमि प्रस्फुरन्निव
दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥२॥

अर्थ—हे (अद्रिवः) कभी खण्डित न होने वाली शक्ति वाले भगवन् (ध्मातः) हवा से भरी हुई (दृतिः) चमड़े की धौंकनी की (न) भांति (यत्) जो (प्रस्फुरन्) फूला हुआ, चंचल (इव) सा (एमि) मैं फिरता हूं, [सो आप ऐसी अवस्था से बचा कर] मुझे (मृड) सुखी कीजिये (सुक्षत्र) हे विपत्ति से बचाने वाले और शक्तिशाली भगवन् (मृडय) मुझे सुखी कीजिये।

हमें जो भांति-भांति के दुःख, भांति-भांति के कष्ट और और अनिष्ट प्राप्त होते हैं उनके अनेक कारणों में से एक बड़ा कारण हमारा अहंकार है। हवा भर जाने से जैसे धौंकनी फूल जाती है और चंचल हो उठती है वैसे ही हमारा अहंकार हमें भी फुला देता है और चचल कर देता है। हम अहंकार से फूले हुए अपने आगे किसी को कुछ नहीं गिनते। फिर अहंकारजनित मन की यह अवस्था हमें चंचल और उद्दण्ड बना देती है। यह उद्दण्डता की अवस्था हमारे सत्य और असत्य, भले और बुरे के ज्ञान को विलुप्त कर देती है। हमें अर्थ और अनर्थ का कुछ विवेक नहीं रह जाता। हम अहंकार से उन्मत्त और उद्दण्ड होकर अनेक

अनर्थ, अनेक पापाचरण, करने लग जाते हैं। हमारे अनर्थाचार का, पापाचार का, परिणाम यह होता है कि हमें अनेक दुखों और कष्टों में फंसना पड़ता है। भगवान् की न्याय व्यवस्था में पाप करके कोई भी उसके परिणाम दुःख से बच नहीं सकता। यदि हम दुःख से बचना चाहते हैं तो हमें उसके कारण पाप से अलग रहना होगा। कारण को हटाये बिना कार्य नहीं हट सकता। और पाप का एक बड़ा भारी कारण हमारा अहंकार है। मन्त्र में उसी अहंकार से छुड़ाने की प्रभुसे प्रार्थना की गई है।

अहंकार से बचने की प्रार्थना के प्रसंग में यहां वरणीय प्रभु का एक विशेषण "अद्रिवः" दिया गया है। "अद्रि" का अर्थ होता है जिसे तोड़ा न जासके, डिगाया न जासके, दबाया न जासके। "अद्रिवान्" का अर्थ हुआ 'अद्रिवाला" उसी को संबोधन में है "अद्रिवः" ऐसा कहा गया है। भगवान् की अपनी शक्ति ऐसी है जिसे तोड़ा नहीं जा सकता, डिगाया नहीं जा सकता, दबाया नहीं जा सकता। ऐसी 'अद्रि" सामर्थ्य से युक्त होने के कारण प्रभु को "अद्रिवान्" कहा जाता है। हमारे अहंकार को "अद्रिवान्" प्रभु ही चूर कर सकते हैं। जब हमें अहंकार सताने लगे तो हमें प्रभु के "अद्रिवत्त्व" गुण पर विचार आरम्भ कर देना चाहिये। उनके इस गुण पर विचार करने से हमारा अहंकार चूर्ण हो जायेगा। हम कितने ही महान्, कितने ही गुणशाली और शक्तिशाली क्यों न हों जायें, हम अपने आस-पास के साथियों की तुलना में अपने आप को

कितना ही बड़ा क्यों न समझने लग जायें; पर जब हम अपनी इस महत्ता, अपने इन गुणों और शक्ति का, अपने इस बड़प्पन का प्रभु की महिमा, प्रभु के गुणों, शक्ति और बड़प्पन से मेल करके देखेंगे तो हमें पता लगेगा कि हम कितने तुच्छ हैं, कितने छोटे हैं। मेरु के सामने सरसों - पहाड़ के सामने राई—की जो लघुता होती है, हमारी तो प्रभु के सामने उससे भी अनन्त गुणा छोटी स्थिति है। हम प्रभु की महिमा के सामने क्या चीज़ हैं ? कुछ भी नहीं। प्रभु की अनन्त शक्ति है और उनमें अनन्त गुण हैं। और उन का एक-एक गुण, उनकी एक-एक शक्ति, "अद्रि" है। उनके किसी गुण और किसी शक्ति को खण्डित नहीं किया जा सकता, दबाया नहीं जा सकता, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उनकी महिमा की समता, उनकी महिमा की बराबरी, विश्व-ब्रह्माण्ड का कोई जड़-चेतन पदार्थ नहीं कर सकता। हम में से कोई उनकी महिमा को पूर्ण रूप से तो समझ भी नहीं सकता, उसकी बराबरी की तो कथा ही क्या है। जब हम अनन्त आकाश में फैले अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना, स्थिति और संहार पर वैज्ञानिक रीति से विचार करने लगते हैं तो हमें इनके रचयिता की शक्ति और ज्ञान का कुछ-कुछ आभास होने लगता है। और वह आभास ही इतना विराट् होता है कि उसे देख कर हकारी बुद्धि स्तब्ध हो जाती है। तब हमें अनुभव होने लगता है कि हम अहंकारी जीव अपनी किस बात पर फूले फिरते हैं ? हमारे पास है क्या जिसका हमें इतना घमण्ड है ? यदि विश्व के रचयिता

प्रभु की रक्षा का हाथ हमारे सिर पर न हो तो हम तो इस विराट् विश्व में एक क्षण के लिये जीवित भी नहीं रह सकते। हम में जो कुछ अल्प सी शक्ति है वह सब उसी अनन्त शक्ति के भण्डार महाप्रभु की कृपा का फल है। उसकी दी हुई अपनी इस तुच्छ सी शक्ति के अहंकार में भर कर हमें उससे अनर्थ के कर्म नहीं करने चाहियें।

इस प्रकार प्रभु के गुणों की "अद्रिता' पर विचार करने से हमारा घमण्ड चूर होने लगता है। और जब हम अपने अहंकार को दूर करने की भावना लेकर प्रभु की महिमा पर इस प्रकार विचार करना आरम्भ कर देते हैं तो प्रभु की हम पर कृपा होती है और वे हमारी भावना को देख कर हमें अहंकार को जीतने में सहायता देते हैं। अहंकार की विजय हो जाने पर पाप का एक बहुत बड़ा कारण नष्ट हो जाता है। और इस प्रकार पाप नष्ट हो जाने से हमारे दुःखों का लोप हो जाता है तथा हम शाश्वत सुख के अधिकारी बन जाते हैं।

स्थिर सुख के अभिलाषी हे मेरे आत्मा! तू अपने अहंकार पर विजय प्राप्त कर!

मुझे मेरी अशक्ति उलटा ले जाती है

क्रत्वः समह दीनता
प्रतीपं जगमा शुचे।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ ३ ॥

अर्थ—(समह) हे ऐश्वर्य शाली और पूजनीय (शुचे) हे पवित्र वरुण भगवान् (दीनता) अशक्ति के कारण, मैं (क्रत्वः) कर्तव्य-कर्म से (प्रतीपं) उलटा (जगम) चल पड़ा हूं [सो आप शक्ति देकर मुझे सुमार्ग पर चलाइये और] (मृड) सुखी कीजिये (सुक्षत्र) हे विपत्ति से बचाने वाले और शक्तिशाली भगवन् (मृडय) मुझे सुखी कीकिये।

हमें दुःख क्यों होता है ? जब हम अपने क्रतुओं से उलटा चलने लग पड़ते हैं हमें दुःख भोगना पड़ता है। जो हमारे धर्म हैं, जो हमारे कर्त्तव्य कर्म हैं, उन्हें क्रतु कहते हैं। भगवान् ने जड़ और चेतन जगत् के अनेक नियम बनाये हैं। इन नियमों के अनुसार हमारे क्रतु होने चाहियें, इनके अनुसार हमारा जीवन चलना चाहिये—इनके अनुसार हमारे कर्तव्य कर्म होने चाहियें। जीवन में इन क्रतुओं की—इन कर्तव्य कर्मों की अनेक शाखा-प्रशाखायें हो जाती हैं। हमारे अपने जीवन के प्रति कुछ कर्तव्य कर्म हैं, मनुष्य समाज के प्रति कुछ कर्तव्य कर्म हैं, परमेश्वर के प्रति कुछ कर्तव्य कर्म हैं और पशु-पक्षी आदि मूक प्राणियों के प्रति कुछ कर्तव्य कर्म हैं। फिर, वैयक्तिक जीवन में ब्रह्मचारी के कर्तव्य हैं, गृहस्थ के कर्तव्य हैं और वानप्रस्थ एवं संन्यासी के कर्तव्य हैं। सामाजिक जीवन में पिता-पुत्र के कर्तव्य हैं, पति पत्नी के कर्तव्य हैं, भाई-बहिन के कर्तव्य हैं, गुरु-शिष्य के कर्तव्य हैं, स्वामी और सेवक के कर्तव्य हैं, वस्तुओं के क्रयकर्ता और विक्रेता के कर्तव्य हैं, राजा और प्रजा के कर्तव्य हैं। इन अनेक प्रकार के

कर्तव्य कर्मों में से जब हम किसी कर्तव्य से उलटे चल पड़ते हैं, उसका उल्लंघन कर देते हैं तो हमें कष्ट उठाना पड़ता है। न्यायकारी प्रभु के राज्य में कर्तव्य-भङ्ग का फल कष्ट-भोग ही हो सकता है। कर्तव्य भंग करके कोई सुखी नहीं रह सकता।

हम अपने कर्तव्य-कर्मों से विचलित क्यों हो जाते हैं, अपने क्रतुओं का भंग क्यों कर बैठते हैं? इसका हेतु हमारी अशक्ति है। हमारे शरीर और मन की किसी दुर्बलता के कारण ही हम अपने कर्तव्य से, अपने धर्म से, गिर जाते हैं। अनेक बार अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए हमें कई प्रकार के शारीरिक कष्टों को सहन करने को आवश्यकता पड़ जाती है। किन्तु अपने शरीर की किसी न किसी प्रकार की कोई दुर्बलता मार्ग में आ कर खड़ी हो जाती है और हम उन कष्टों के सहने से घबरा जाते हैं। फल यह होता है कि हमें अपने कर्त्तव्य के पालन से विचलित होना पड़ता है। अनेक बार अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए हमारे सामने काम और लोभ के प्रलोभन आ जाते हैं। हमारे मन में इन फुसलाने वाले प्रलोभनों का सान्मुख्य करने की शक्ति न होने के कारण, हम अपने कर्तव्य-पालन से गिर जाते हैं। अनेक बार अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए क्रोध, भय, शोक, मोह आदि विकारों का सामना हमें करना पड़ जाता है। हमारे मन में इन विकारों पर विजय पाने की शक्ति न होने के कारण हमें इन से दब जाना पड़ता है और इस प्रकार हम अपने कर्तव्य पालन से च्युत हो जाते हैं। किसी विषय का पूर्ण ज्ञान न होना भी हमारे मन की एक

दुर्बलता है। अनेक वार हमें वस्तु-स्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं होता और ज्ञान की दुर्बलता का परिणाम यह होता है कि हम अपने कर्तव्य का भंग कर बैठते हैं। सारांश में, हमारे कर्तव्य-भंगों का कारण हमारी कोई न कोई अशक्ति, कोई न कोई दुर्बलता होती है। मन्त्र में अशक्ति के लिये "दीनता" शब्द का प्रयोग हुआ है। जो क्षीण हो, जो तोड़ा जा सके, जो दबाया जा सके, उसे "दीन" कहते हैं। दीन के भाव को दीनता कहेंगे। हम अपनी अशक्ति के कारण क्षीण हो जाते हैं, तोड़ दिये जाते हैं, दबा दिये जाते हैं, इसलिये मन्त्र में उसे "दीनता" कहा गया है।

जब हम अपनी दीनता का अनुभव करके, जब हम अपनी दुर्बलताओं को पहचान कर, उन्हें त्यागने के अभिप्राय से भगवान् की शरण में आते हैं और उनसे शक्ति की प्रार्थना करते हैं तो प्रभु शक्ति-सम्पन्न बनने में हमारी सहायता करके हमें अदीन बना देते हैं। दीनता के दूर होने पर उससे होने वाला कर्तव्यों का भंग भी जाता रहता है। हम अपने विभिन्न कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करने लगते हैं। इसका फल यह होता है कि हमें कोई कष्ट प्राप्त नहीं होता और हमारे जीवन सुखी बन जाते हैं।

हे प्रभो! हम आपकी शरण में आते हैं। आप हमारी सब प्रकार की शारीरिक और मानसिक दीनता दूर करके हमें शक्तिशाली बनाइये। आप "समह" हैं। आप का बड़ा ऐश्वर्य, आपकी बड़ी महिमा है। इस महिमा के कारण आप सबके

पूजनीय हैं। आप "सुक्षत्र" हैं—आप विपत्ति से बचाने वाली शक्ति के पुञ्ज हैं। आप "शुचि" हैं—परम पवित्र हैं। शक्ति के भण्डार, महामहिम, आप से बढ़ कर हमारी दुर्बलता को और कौन दूर कर सकता है? पवित्रता के आगार, आप से बढ़ कर हमें कौन पवित्र बना सकता है? हे नाथ, हमें शक्ति दो जिससे हम पाप से बच कर पवित्र बन सकें।

जल बिच मीन पियासी

अपां मध्ये तस्थिवांसम्,
तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥४॥

अर्थ—(अपां) जलों के (मध्ये) बीच में (तस्थिवांसं) खड़े हुए (जरितारं) तेरे भक्त को (तृष्णा) प्यास (अविदत्) लगी हुई है (मृड) सुखी कीजिये (सुक्षत्र) हे विपत्ति से बचाने वाले शक्तिशाली प्रभो (मृडय) मुझे सुखी कीजिये।

हे भगवान्! जलों की अनन्त राशि पड़ी हुई है। पर प्यासा ही मरता हूँ। प्रभो, मेरी प्यास कब दूर होगी?

अपने प्रभु की प्राप्ति के लिये सच्ची तड़प से व्याकुल भक्त के हृदय से इसी प्रकार के उद्गार निकला करते हैं। यह सारा जगत् उसके लिये खुला पड़ा होता है। अपने रस और महक से साधारण जनों को मस्त कर देने वाले, धरती माता की छाती पर लगे हुए विस्तीर्ण फलोद्यानों के उत्तमोत्तम फल उसके लिये उपस्थित होते हैं पर उसे तृप्ति प्राप्त नहीं होती। गंगा-यमुना के जल की शीतल और स्वादिष्ट धारायें सहस्रों की संख्या में बह रही

होती हैं, पर उनसे उसका सन्तोष नहीं होता। धरती पर उगने वाले भांति-भांति के अन्न, उसकी खानों से निकलने वाले अद्भुत और बहुमूल्य रत्न उसके किसी काम नहीं आते। चन्द्र की शान्तिदायिनी चन्द्रिकायें उसे शान्ति नहीं देतीं। विश्वके असंख्य पदार्थों से मिल सकने वाले विभिन्न सुख-भोग उसके लिये कोई रस नहीं रखते। इस विश्व के सुख-समुद्र के बीच में खड़ा हुआ भी वह अपने को प्यासा ही पाता है। उसे तो एक बात की लगन लगी है—वह है अपने प्रभु से मिलने की चाह। जब तक उसे उसका प्रभु नहीं मिल जाता तब तक उसे संसार का प्रत्येक भोग फीका प्रतीत होता है। नहीं, वह अपने में फंसा कर उसके ध्यान को प्रभु से अलग खींचना चाहता है, उसके उद्देश्य में रुकावट डालना चाहता है, इसलिये वह सांसारिक भोग उसके लिये विष है—वह उससे परे भागता है। इस प्रकार यह संसार का सुख-समुद्र उसे किसी प्रकार सन्तोष न देकर उलटा उसकी विकलता को, उसकी प्यास को बढ़ाने का कारण बनता है। उसे अपने भगवान् के दर्शन नहीं हुए, इसलिये वह व्याकुल है, तड़प रहा है। यह संसार उस बुड़पन की हालत में उसे और दुःखदायी प्रतीत होता है।

इस संकट से वह कैसे पार होगा ? भगवान् ही भक्त को इस विकट विपत्ति से उबार सकते हैं। वे "सुत्त्र" हैं—विपत्ति-ग्रस्त को विपत्ति से बचा सकते हैं। अपने भक्त की गहरी भक्ति और उसके पवित्र आचरणों से प्रसन्न होकर जब भगवान् उसे अपना दर्शन दे देते हैं तभी भक्त की यह विपत्ति, उसकी यह

विकलता की अवस्था दूर होती है। तब वह कृतकृत्य हो जाता है, पूर्णकाम हो जाता है। उसके लिये फिर और कुछ अपने भगवान् से बढ़कर प्यारा प्राप्तव्य नहीं रह जाता। अब उसे अपने भगवान् के आनन्दभरे दर्शन प्राप्त हो चुके हैं। अब उसे सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दीखते हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ और उसका प्रत्येक भोग अब उसे भगवान् के रंग में रंगा नजर आता है—उसे उसमें भगवान् की विभूति झलक रही प्रतीत होती है। वह अब उसे भगवान् के रस से रसीला प्रतीत होने लगता है, इसीलिये उसके प्रेम और रुचि का पात्र बन जाता है। अब उसे उसमें एक ऊंचे प्रकार का आनन्द आने लगता है। अब वह उसकी विकलता नहीं बढ़ाता प्रत्युत उसकी शान्ति और सन्तोष का कारण बनता है। अब संसार का छोटे से छोटा पदार्थ भी उसकी प्यास बुझा देता है—क्योंकि अब उसे उसमें प्रभु बैठे हुए दीखते हैं। प्रभु के मधुर प्रभाव से अब सारा विश्व मीठा बन गया है। अब उसके सब दुःख और क्लेश भी कट गये हैं।

प्रभो! मुझ में भी क्या आपके लिये प्यास पैदा हो सकेगी? मैं भी क्या आपके दर्शनों के बिना संसार को फीका समझने लगूंगा? और फिर मुझे भी क्या आपकी प्राप्ति हो जाने पर यह सारा विश्व आपके रस से रसीला दीखने लगेगा? और इस प्रकार मेरे सारे क्लेश कट जायेंगे?

दैव्य जनों की संगति

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽ-

भिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।

अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम,

मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥५॥

अर्थ—(वरुण) हे पाप से बचाने वाले प्रभो ! (मनुष्याः) हम साधारण कोटि के मनुष्य (दैव्ये) प्रकाशयुक्त ज्ञानी (जने) जनों के प्रति (यत्) जो (किंच) कुछ भी (इदं) यह (अभिद्रोहं) द्रोह (चरामसि) करते हैं, और इसीलिये (अचित्ती) अज्ञान से (यत्) जो (तव, तेरे (धर्म्मा) नियमों को (युयोपिम) तोड़ देते हैं (देव) हे दिव्यशक्तियों वाले प्रभो ! (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (नः) हमें (मा) मत (रीरिषः) मारिये।

जब हमसे कोई पाप हो जाता है तो भगवान् हमें मारते हैं, दण्ड देते हैं। प्रभु वरुण हैं, हमें पाप से बचाने वाले हैं, इसलिये वे पाप से बचाने के लिये ही हमें पाप करने पर दण्ड देते हैं। जिस पाप के करने पर हमें प्रभु की प्यार-भरी मार सहनी पड़ती है वह पाप हमसे क्यों हो जाता है? हम क्यों कोई पाप कर बैठते हैं? और उस पाप का स्वरूप क्या है? हमारा कौनसा कर्म पाप हो जाता है और कौनसा कर्म पुण्य रहता है?

मन्त्र में प्रभु के धर्मों को तोड़ना ही पाप बताया गया है। मन्त्र में कहा गया है कि "हे देव हम जो तेरे धर्मों को तोड़ देते हैं उस पाप से हमें मत मारिये।" अतः स्पष्ट रूप में प्रभु के धर्मों को तोड़ना ही पाप है। प्रभु ने संसार के प्रत्येक क्षेत्र के लिये और प्रत्येक पदार्थ के लिये कुछ धर्म बनाये हैं। धर्म का शब्दार्थ है जो धारण करे, बांध कर रखे, जिसके कारण किसी पदार्थ का अपना स्वरूप बना रहे। इसलिये किसी पदार्थ के जो ऐसे गुण हैं जिनके होने से वह पदार्थ, वह पदार्थ रहता है, यदि वे गुण उसमें न हों तो वह पदार्थ वह पदार्थ न कहा जा कर कोई और पदार्थ कहा जाता, उन गुणों को उस पदार्थ के धर्म कहा जाता है। उदाहरण के लिये अग्नि के प्रकाश, उष्णता और ज्वलन आदि गुणों को उसका धर्म कहा जाता है। पदार्थों के इन धर्मों को कई बार व्रत, नियम आदि शब्दों से भी कहा जाता है। जब हम परमात्मा के बनाये पदार्थों के इन धर्मों को, इन नियमों को, तोड़ देते हैं, इनका उल्लंघन कर देते हैं, तो हम से पाप हो जाता है। प्रभु के बनाये धर्मों, नियमों, को उल्लंघन करके जो हम आचरण करते हैं, उस हमारे आचरण को पाप कहा जाता है। साधारण बोल-चाल में, मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार में एक दूसरे के साथ बर्ताव करने के जो धर्म, नियम या कर्तव्य हैं, उन्हीं का भंग करने पर हम किसी व्यक्ति को पापी कहते हैं। परन्तु व्यापक दृष्टि से तो किसी भी पदार्थ के

धर्मों का उल्लघंन करके किया हुआ हमारा आचरण पाप कहलायेगा। हमें पता है कि आग का एक धर्म जलाना भी है। यदि हम आग के इस धर्म का ध्यान न रख कर आग में हाथ डालेंगे तो हमारा हाथ जल जायेगा। हमें हाथ जल जाने का कष्ट इस लिये उठाना पड़ा कि हमने आग के एक धर्म का ध्यान न रखते हुए उसके साथ जैसा चाहिये था वैसा आचरण नहीं किया। हमने आग के साथ बर्ताव करने में अपनी ओर से एक पाप किया। पाप का फल तो कष्ट होगा ही। हमारे आचरण से आग को तो कोई कष्ट नहीं होता क्योंकि वह जड़ है। परन्तु हमारा आचरण मिथ्याचरण था, अग्नि के धर्मों के प्रतिकूल था, इसलिये वह पाप ही है। जब हम किसी भी पदार्थ के साथ किसी विशेष सम्बन्ध में आते हैं तब उस सम्बन्ध के अनुसार हमारे और उस पदार्थ के परस्पर बर्ताव करने के जो धर्म हैं उनका ध्यान न रख कर उनके प्रतिकूल जो हम आचरण कर बैठते हैं उसी का नाम पाप है। चेतन प्राणियों के साथ हमारे इस प्रतिकूल आचरण से उनको कष्ट भी पहुँचता है। जड़ पदार्थों के साथ प्रतिकूल आचरण से उनको कष्ट नहीं पहुँचता। प्रभु ने यह व्यवस्था रखी है कि जड़ पदार्थों के साथ प्रतिकूल आचरण करने से तो हमें तत्काल उसके प्रतिफल में दुःख मिल जाता है। और चेतन प्राणियों के साथ प्रतिकूल आचरण करने से हमें उसके प्रतिफल में कई बार तत्काल और कई बार कालान्तर में दुःख प्राप्त होता है। पाप का फल दुःख अवश्य मिलता है, चाहे वह तत्काल मिले चाहे कालान्तर में।

हम प्रभु के बनाये धर्मों का, नियमों का, भंग क्यों कर देते हैं और इस प्रकार पाप क्यों कर बैठते हैं? इसका कारण होता है हमारा अज्ञान। यदि हमें प्रत्येक पदार्थ का और प्रत्येक अवस्था का पूरा ज्ञान हो तो हम प्रभु के नियमों का कभी भंग न करें। और इस प्रकार कभी पाप के भागी न बनें। हमारे सब अनर्थों की, सब रोगों की, सब कष्टों की, जड़ हमारा अज्ञान है।

हमारा अज्ञान दूर होकर हमें ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? इस के लिये हमें "दैव्य जनों" की संगति करनी चाहिये। हम जैसी संगति करते हैं वैसे ही हम बन जाया करते हैं। मूर्ख जनों की संगति में रहने से हम मूर्ख हो जाते हैं। और "दैव्य-जनों" की संगति में रहने से हम भी "दैव्य जन" बन जाते हैं। "दिव्" का अर्थ होता है प्रकाश। जो सदा "दिव्" में, प्रकाश में, रहें ऐसे लोगों को "दैव्यजन" कहते हैं। जो लोग प्रकाश युक्त हैं, ज्ञानी हैं, वे "दैव्यजन" हैं। संसार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों क पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं और शास्त्रों के ज्ञाता पण्डितों को ब्राह्मणों को, "दैव्यजन" कहते हैं। क्योंकि उनके पास ज्ञान का, सब रहस्यों को दिखा देने वाला, महान् प्रकाश है। जहां विभिन्न विद्याओं के पण्डित लोग "दैव्यजन" कहलाते हैं वहां वरुण प्रभु, वरणीय भगवान्, एक दैव्यजनों के महा दैव्यजन हैं। उनसा ज्ञान, उनसा प्रकाश तो किसी के पास नहीं है। हमें पाप के मूल अज्ञान का नाश करने के लिये "दैव्य"जनों की संगति में बैठना चाहिये। विभिन्न पण्डितों की संगति में बैठ कर

विश्व के विभिन्न पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये—उनके धर्म जानने चाहियें। इसके साथ ही हमें महा "दैव्य जन" प्रभु की संगति भी करनी चाहिये। प्रभु ने सृष्टि के आरंभ में हमारे कल्याण के लिये वेद का उपदेश दिया है। उसका अध्ययन करने से हमें अनेक आवश्यक बातों के रहस्य पता लगेंगे। प्रभु के वेद का पढ़ना प्रभु की संगति में बैठना है। इसके अतिरिक्त हमें प्रातः सायं प्रभुकी उपासना में, उनकी भक्ति में, बैठ कर भी उनकी संगति प्राप्त करनी चाहिये। सच्चे हृदय से प्रभु की उपासना में बैठने वाले व्यक्ति को अनेक वार प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है जो कितने ही रहस्यों को खोल कर हमें प्रकाश दे जाती है। और यों भी हमें उपासना के समय प्रभु के गुणों पर तन्मय होकर विचार करने से अनेक शिक्षाएं प्राप्त होती हैं जिनका अनुसरण करने से हमारे अनेक प्रकार के अन्धकार कट सकते हैं। इस प्रकार विद्वान् ब्राह्मणों और परमात्मा इन दो "दैव्य जनों" की संगति में बैठने से हमें अवश्यक ज्ञान प्राप्त होगा जिसका फल यह होगा कि हम पाप से बच जायेंगे और सदा सुख में रहेंगे। हम प्रायः दैव्यजनों से द्रोह करते हैं, उन से अप्रीति करते हैं। इस द्रोह, इस अप्रीति का फल यह होता है कि हम उनकी प्रकाश देने वाली संगति से दूर रहते हैं। हमें प्रकाश न मिलने से, ज्ञान प्रप्त न हो सकने से, हम पापाचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं और इस प्रकार भांति-भांति के कष्ट हमें भोगने पड़ते हैं। पापजन्य कष्ट से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम "दैव्य जनों" की संगति में बैठ कर ज्ञानका प्रकाशप्राप्त करें और इस विधि स्वयं भी साधारण मनुष्य न रह

कर "दैव्य जन"—प्रकाश वाले व्यक्ति—बन जायें। इसके लिये हमें "दैव्य जनों" से प्रीति जोड़ कर उनकी संगति में बैठने का अभ्यास डालना चाहिये।

हे प्रभो! हमें अपनी हमारे पापजन्य दण्ड की मार से मत मारिये। हमें अपनी और अन्य दैव्य जनों की संगति में बैठने की बुद्धि और शक्ति दीजिये,। जिस से हम पाप के मूल अज्ञान से दूर रह सकें। हे देव! हम पर यह कृपा करके हमें दुःख सागर से उबार कर आनन्दोदधि में निमग्न कीजिये।

नवम सूक्त

(ऋग्० ८ । ४१)

वह ज्ञानियों को प्रभूति देता है

अस्मा ऊ षु प्रभूतये,
वरुणाय मरुद्भ्यः,
अर्चा विदुष्टरेभ्यः ।
यो धीता मानुषाणाम्,
पश्वो गा इव रक्षति,
नभन्तामन्यके समे ॥ १ ॥

अर्थ—(विदुष्टरेभ्यः) उत्कृष्टतर ज्ञानी (मरुद्भ्यः) मनुष्यों के लिये (प्रभूतये) प्रकृष्ट ऐश्वर्य देने वाले (अस्मै) इस (वरुणाय) सब के वरणीय और सब को बचाने वाले भगवान् की (ऊ) निश्चय से (सु) अच्छी प्रकार (अर्चा) पूजा कर (यः) जो भगवान् (धीता) अपने ज्ञान और कर्म से (मानु-

षाणां) मनुष्यों के (पश्वः) बच्चों की (गाः) गौओं की (इव) भांति (रक्षति) रक्षा करता है [जो इस प्रकार वरुण भगवान् की पूजा करता है] (समे) उसके समान (अन्यके) दूसरे लोग (न) नहीं (भन्ताम) हो सकते

भगवान् प्रभूति हैं । क्योंकि उनकी कृपा से मनुष्यों को प्रकृष्ट भूति प्राप्त होती है—बहुत ऊंचे प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त होता है । प्रभूति भगवान् की कृपा से प्र-भूति, प्रकृष्ट ऐश्वर्य, किस प्रकार के लोगों को प्राप्त होता है ? इसे स्पष्ट करने के लिये मन्त्र में मनुष्यों का 'विदुष्टरेभ्यः" यह विशेषण दिया है । विदुष्टर उस व्यक्ति को कहेंगे जो अपने साथियों की अपेक्षा अधिक विद्वान हो, किसी विषय का अधिक ज्ञान रखता हो । जो लोग इस प्रकार के विदुष्टर ज्ञानी होंगे उन्हें प्र—भूति प्राप्त होगी । भूति का अर्थ होता है ऐश्वर्य और प्र-भूति का अर्थ होता है प्रकृष्ट ऐश्वर्य । जो विद्वान पुरुष हैं उन्हें भगवान् की कृपा से भूति -ऐश्वर्य—प्राप्त होता है । परन्तु जो व्यक्ति अपने चारों ओर के विद्वानों से भी अधिक विद्वान् हो जाते हैं, बिदुष्टर हो जाते हैं, उन्हें प्रभु की कृपा से प्रभूति प्राप्त होती है, प्रकृष्ट अर्थात् औरों से अधिक अच्छा ऐश्वर्य प्राप्त होता है । जब हम किसी क्षेत्र के विद्वान् बन जायेंगे तो हमें भगवान् अपनी कृपा से उस क्षेत्र में ऐश्वर्य प्रदान करेंगे । और जब हम उस क्षेत्र में और भी अधिक विद्वान् हो जायेंगे तो प्रभु की अनुकम्पा से हमें उस क्षेत्र में प्र-भूति प्राप्त होगी । यह प्र-भूति देने वाला होने के कारण ही प्रस्तुत मन्त्र में भगवान् को प्रभूति विशेषण दिया गया है । यहां मनुष्य के लिये "मरुत्" शब्द का प्रयोग किया गया

है। वेद में इस शब्द का प्रधान प्रयोग मरने-मारने वाले सैनिक के अर्थ में होता है। यहां इस का गौणी वृत्ति से मनुष्य-सामान्य के लिये प्रयोग हुआ है, क्योंकि सैनिक अर्थ यहां आध्यात्मिक अर्थ में सुसंगत नहीं होता। परन्तु मनुष्य-सामान्य के लिये प्रयुक्त होता हुआ भी यह शब्द यहां एक बड़ी सुन्दर ध्वनि दे रहा है। भगवान् की कृपा से ऐश्वर्य किन लोगों को प्राप्त होगा? उन्हें जो मरुत् होंगे। जैसे सैनिक अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये मरने-मारने को उद्यत रहता है, अपनी जान पर खेलने के लिये सन्नद्ध रहता है वैसे ही जो पुरुष अपने किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनी जान तक पर खेलने के लिये उद्यत रहेंगे उन्हीं को भगवान् की कृपा से ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

इस वर्णन से एक बात पर और प्रकाश पड़ता है। भगवान् की कृपा किन लोगों पर होती है? किन को उनकी कृपा से ऐश्वर्य प्राप्त होता है? इसके लिये कहा कि जो व्यक्ति मरुत् और विदुष्टर होंगे उन्हीं को वरुण की कृपा से प्र-भूति प्राप्त होगी। जो व्यक्ति जिस क्षेत्र में ऐश्वर्य अथवा प्रकृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहता है उसे उस क्षेत्र सम्बन्धी सब बातों का विद्वान् और विदुष्टर विद्वान् बनना चाहिये और इसके साथ ही उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये जान पर खेलने को, मर मिटने को भी तैयार रहना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसी पूर्ण तय्यारी और पूर्ण तत्परता के साथ किसी काम में जुट पड़ेगा और फिर उसमें सफलता पाने के लिये प्रभु से कृपा दृष्टि की प्रार्थना करेगा उसी पर उनकी कृपा बरसेगी। ऐसे व्यक्ति को भगवान् की कृपा से अपेक्षाकृत बहुत शीघ्र सिद्धि

प्राप्त होगी। जो लोग प्रयत्न तो करते नहीं, हाथ पर हाथ धर के बैठे रहेंगे, और भगवान् से सफलता के लिये कृपा वृष्टि की प्रार्थना करते रहेंगे ऐसे निरुद्यम लोगों पर भगवान् की कृपा नहीं बरसती।

भगवान् अपनी कृपादृष्टि से हमें भांति-भांति के ऐश्वर्य का ही प्रदान नहीं करते। वे हमारी और हमसे सम्बन्ध रखने वालों की रक्षा भी करते हैं। इसी अभिप्राय से मन्त्र में कहा है—वरुण गौवों की भांति रक्षा करते हैं। यहां "गौवों की भांति" इस उपमा का भाव यह है कि भगवान् जिस प्रकार मनुष्यों की गौवों आदि की रक्षा करते हैं उसी प्रकार उनके बच्चों की रक्षा करते हैं। दूसरे शब्दों में हमारे बच्चे और पशुओं, सबकी रक्षा भगवान् ही अपने ज्ञान और कर्म से कर रहे हैं। सचमुच हमारी और हमारे पशुओं की रक्षा भगवान् के ही ज्ञान और कर्म से हो रही है। जब हम अपने जीवित रहने की प्रक्रिया पर गम्भीरता से विचार करने बैठते हैं तो हमें पता लगता है कि हमारे जीवित रहने में प्रभु का कितना ज्ञान और कर्म लग रहा है। हमारे कृत कर्मानुसार जब तक भगवान् अपने ज्ञान और कर्म की सहायता से हमें जीवित रखना चाहते हैं तभी तक हम जीवित रह सकते हैं, तभी तक हमारी रक्षा हो सकती है। जब भगवान् हमें हमारे कर्मानुसार जीवित रखना नहीं चाहते, हमारी रक्षा नहीं चाहते, उसके पश्चात् हम एक क्षण भी नहीं जी सकते। हमारे जीवित रहने में, हमारे रक्षित रहने में, भगवान् का कितना ज्ञान और कर्म लग रहा है। यह हमारे जीवन का अध्ययन करने

से स्पष्ट हो जाता है। हमारा शरीर हमारे माता-पिता के रज-वीर्य के हमारी माता के गर्भ में एकत्र होने पर बनता है। मात-पिता के शरीर में रज-वीर्य बनने के लिये, माता के पेट में हमारी सृष्टि होने के लिये तथा माता के पेट से बाहर आने पर भी हमारी वृद्धि होने के लिये रक्त की आवश्यकता है। यह रक्त बनने के लिये हमें भांति भांति के अन्न, फल, दूध आदि की आवश्यकता पड़ती है। ये अन्न फलादि बनने के लिये जल, पृथिवी, वायु आकाश और सूर्य की उष्णता और प्रकाश की जरूरत होती है। यह रज-वीर्य, रक्त, अन्न फल, वायु, जल, पृथिवी, सूर्य आदि भांति-भांति के पदार्थ किन सूक्ष्म वैज्ञानिक नियमों के अनुसार बनते और कार्य करते हैं यह इन से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों का अध्ययन करने से पता लगता है। फिर हमारे शरीर में ही और भी कितनी ही वैज्ञानिक क्रियायें हो रही हैं जिन्हें समझने के लिये एक-एक पृथक् विज्ञान को पढ़ने की आवश्यकता होती है। हमारे शरीर के निर्माण, धारण और जीवन में काम आने वाला यह समग्र विज्ञान अन्ततोगत्वा हमें मानना पड़ता है कि प्रभु का ही बनाया हुआ है। इस सबके निर्माण और संचालन में प्रभु का कितना ज्ञान और कर्म लग रहा है इसे इस विषय के पूर्ण विद्वान् ही कुछ-कुछ समझ सकते हैं। प्रभु के इस महान् ज्ञान और कर्म की सहायता के बिना हम स्वतन्त्र रूप से एक क्षण के लिये भी जीवित और रक्षित नहीं रह सकते थे।

ऐसे ऐश्वर्य प्रदाता और रक्षाकर्ता वरुण प्रभु की हमें पूजा करनी चाहिये। उसके प्रति श्रद्धा और सत्कार के भावों से भक्ति-नम्र होना चाहिये।

जो व्यक्ति भगवान् की शरण में आकर उनके पूजक बन जाते हैं और मन्त्र में वर्णित विधिके अनुसार ज्ञान और क्रिया-शीलता का तत्परतामय जीवन व्यतीत करते हुए उनसे ऐश्वर्य की कृपावृष्टि की प्रार्थना करते हैं। उनके उत्कर्ष की, उनकी उन्नति और अभ्युदय की समानता दूसरे अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्मा! तू भी प्रभुकी शरण में जाकर उनकी आराधना करके प्रभूति—प्रकृष्ट ऐश्वर्य—प्राप्त करले।

नदियों के उद्गम स्थानों में बैठ कर उसे रिझा

तमू षु समना गिरा,
पितॄणां च मन्मभि-,
र्नाभाकस्य प्रशस्तिभिः।
यः सिन्धूनामुपोदये,
सप्तस्वसा स मध्यमो,
न भन्तामन्यके समे ॥२॥

अर्थ—(पितॄणां) वृद्ध लोगों के (मन्मभिः) ज्ञानों (च) और (नाभाकस्य) प्रकाशमान् योगी जनों के (प्रशस्तिभिः)

भगवान् के कीर्तनों की सहायता से (समना) एक रस बहने वाली (गिरा) अपनी भक्ति वाणी द्वारा (तं) उस वरुण भगवान् की (ऊ) निश्चय से, मैं (सु-अर्चामि) अच्छे प्रकार पूजा करता हूं (यः) जो व्यक्ति (सिन्धूनाम्) नदियों के (उपोदये) उद्गम स्थानों में बैठ कर (सप्तस्वसा) [सात छन्दों में बद्ध वेद की ऋचाओं रूपी] सात बहिनों वाला हो जाता है [अर्थात् वेद की सात प्रकार की ऋचाओं द्वारा भगवान् के गुण गाने वाला हो जाता है] (सः) वही (मध्यमः) भगवान् में वसने वाला, हो सकता है (अन्यके) दूसरे (समे) उसके बराबर (न) नहीं (भन्ताम्) हो सकते।

गत मन्त्र में भगवान् की पूजा करने का, उसकी उपासना करने का आदेश किया गया था। प्रस्तुत मन्त्र में यह बताया गया है कि हमें भगवान् की आराधना किस प्रकार करनी चाहिये। कहा है कि जो मध्यम होना चाहता है, भगवान् के बीच में रहना चाहता है, प्रभु में रमा रहना चाहता है, उसे नदियों के उद्गम स्थानों में बैठ कर सप्तस्वसा बनना चाहिये। स्वसा का स्थूल अर्थ बहिन होता है। इस प्रकरण में बहिन अर्थ संगत नहीं हो सकता। यहां वेद वाणी को अलंकार से स्वसा कह दिया गया है। जिस प्रकार बहन भाई का मंगल करने वाली होती है उसी तरह वेद-वाणी भी उपासक का मंगल करने वाली होती है। स्वसा शब्द का यौगिक अर्थ भी लिया जा सकता है। "स्वयं सरतीति स्वसा"—जो स्वयं गति करे वह स्वसा है। वेदवाणी की सब मनुष्योपयोगी विद्याओं में गति हैं इसलिये वह स्वसा है।

वेद वाणी की रचना गायत्री आदि सात छन्दों में है इसलिये उस स्वसा के सात भेद हो जायेंगे। फिर जो उपासक सात स्वसाओं वाला होगा, सात स्वसाओं का स्वाध्याय करेगा उसे "सप्तस्वसा" कहेंगे। भाव यह है कि जो प्रभु में रमना चाहता है उसे नदियों के उद्गम स्थलों के रमणीक स्थानों में बैठ कर सात छन्दों में रची गई वेद की वाणी का गान और मनन करना चाहिये। और पितर अर्थात् अपने से छोटों की पालना और कल्याण की वृत्ति रखने वाले ज्ञान-वृद्ध लोगों ने तथा नाभाक अर्थात् प्रकाश का पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले योगी जनों ने वेद के ही आशय को स्पष्ट और पुष्ट करने वाली जो ज्ञान-चर्चायें की हैं और जो प्रशस्तियें अर्थात कवितायें रची हैं उनका भी स्वाध्याय और गान करना चाहिये। इस प्रकार श्रुति और श्रुति के आशय के अनुकूल रची हुई दूसरी रचनाओं द्वारा इन रमणीक स्थानों में जो प्रभु-भक्ति की वाणी बोली जाये वह समना होनी चाहिये। एक-दो क्षण तक ही जल्दी से बोल कर उसे बस नहीं कर देना चाहिये। प्रत्युत उसे समना बनाना चाहिये—पर्याप्त देर तक समान रूप से उस वाणी को बोलते रहना चाहिये। रमणीक स्थानों में बैठ कर देर तक एक-रस वाणी से गाई हुई प्रभु-भक्ति का हमारे हृदय पर विशेष गहरा प्रभाव पड़ता है। उससे हमारे हृदय के तार बज उठते हैं—सोई हुई आध्यात्मिक वृत्तियें हमारे अन्दर जाग उठती हैं। और इस प्रकार हमारे जीवन में एक मंगलकारी परिवर्तन आ जाता है।

मन्त्र में उपासना करने का आदर्श स्थान नदियों का उद्गम स्थान बतलाया गया है। क्योंकि हमारे प्रभु-गान के साथ मिल कर वहां के झरनों का संगीत हमारे हृदयों को अद्भुत रीति से तरंगित कर देता है जिससे हम अध्यात्म की ओर अनायास रीति से बहने लगते हैं। यदि किसी को नदियों का उद्गम स्थान प्राप्त न हो सके तो उसे दूसरी कोटि पर मैदान में बहती हुई नदियों का किनारा प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि मैदान में बहती हुई नदियों में भी एक संगीत रहता है, यद्यपि उतना नहीं जितना कि उनके उद्गम स्थल के झरनों में होता है। यदि किसी को नदी का तीर भी न मिल सके तो उसे कम से कम किसी सरोवर का तट ही उपासना के निमित्त प्राप्त करना चाहिये। सरोवर में भी उठती हुई लहरों में कुछ न कुछ संगीत रहता है। इसलिये प्रत्येक नगर में उपासना के लिये स्वच्छ जलाशय बनाये जाने चाहियें। प्रभु की उपासना सदा जल के किनारे करने का प्रयत्न करना चाहिये। जलाशयों के वायुमण्डल में शान्त और पवित्रता की वृत्ति जगाने की अद्भुत शक्ति होती है। और प्रभु-भक्ति के समय हृदय में इन वृत्तियों का रहना नितान्त आवश्यक है।

जो लोग इस प्रकार प्रभु की उपासना करते हैं दूसरे अनुपासक लोग उनकी समानता नहीं कर सकते।

मन्त्र में "अर्चामि" पद नहीं है। मन्त्र का अर्थ करते हुए प्रकरणवश इस पद का अध्याहार किया गया है।

हे मेरे आत्मा ! तू भी नदियों के उद्गम स्थान में बैठ कर प्रभु के भक्ति-गान गाने का अभ्यासी बन ।

उषाओं को बढ़ाने वाला

स क्षपः परिषस्वजे,
न्युस्रो मायया दधे,
स विश्वं परि दर्शतः ।
तस्य वेनीरनु व्रतम्-
उषस्तिस्रो अवर्धयन्,
न भन्तामन्यके समे ॥३॥

अर्थ—(सः) उस वरुण भगवान् ने ही (क्षपः) रात्रियों को (परिषस्वजे) आलिंगन कर रखा है अर्थात् बना रखा है (सः) उसी ने (मायया) अपनी बुद्धि और कर्म-कौशल से (उस्रः) सूर्य को (दधे) अपने स्थान पर टिका रखा है, वह (दर्शतः) दर्शन करने योग्य प्रभु (विश्वं) इस विश्व के (परि) चारों ओर व्याप्त है (तिस्रः) तीनों लोकों में रहने वाली (वेनीः) कामनाओं से युक्त (उषः) गरमी वाली प्रजायें (तस्य) उसके (व्रतं) नियमों के (अनु) अनुसार चल कर ही (अवर्धयन्) वृद्धि को प्राप्त करती हैं (अन्यके) दूसरे लोग (समे) उनके समान (न) नहीं (भन्ताम्) हो सकते ।

सब के दर्शनीय, सबके साक्षात्कार करने योग्य उस भगवान् की महिमा का कुछ पारावार नहीं है। उसने अपनी माया से, अपने ज्ञान और कर्म से इस उस्र अर्थात् सबके ऊपर चलता हुआ दिखाई देने वाले सूर्य को बना कर अपने स्थान पर धारण कर रखा है। इस प्रकार बना कर धारण किये हुए सूर्य की उष्णता और प्रकाश के कारण ही इस धरती के सब प्राणियों का जीवन और उनके नाना व्यवहार चलते हैं। इस विशाल सूर्य के निर्माण और धारण में वरुण प्रभु का कितना ज्ञान और कर्म लगा होगा! सूर्य का प्रकाश देकर केवल दिन ही प्रभु ने नहीं बनाया है; दिन भर की थकावट और चिन्ताओं के पश्चात् अपनी मीठी गोद में सुला कर अगले दिन फिर से कार्य कर सकने में समर्थ बना देने वाली ये रात्रियें भी तो प्रभु ने ही बनाई हैं। इनकी सत्ता के साथ भी तो उसी का हाथ चिपटा हुआ है। भगवान् ने पृथिवी को निरन्तर सूर्य के चारों ओर घुमाने की व्यवस्था कर रखी है। फिर यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती हुई अपने केन्द्र के चारों ओर भी चौबीस घण्टे में एक बार घूम जाती है। इस प्रकार अपने चारों ओर घूमते हुए पृथिवी का जो जो भाग सूर्य के सम्मुख आता जाता है उस-उस पर दिन होता जाता और दूसरे भागों पर रात्रि होती जाती है। पृथिवी को इस प्रकार नियमित गति से सूर्य के चारों ओर और अपने चारों ओर घुमाने में, जिससे कि ऋतुओं और दिन-रात की सृष्टि होती रह सके, प्रभु का कितना ज्ञान और कर्म लगा होगा! पुनः यह अकेला सूर्य और यह अकेली धरती ही प्रभु ने नहीं

बना रखी है। यह विश्व ही, जिसमें असंख्य सूर्य और असंख्य धरतियें हैं, प्रभु ने अपनी माया से रच कर धारण कर रखा है। प्रभु की माया, उनका ज्ञान और कर्म-कौशल कितना असीम है! फिर प्रभु की महिमा देखो, वे इस विश्व को बना कर तो चला ही रहे हैं, इस प्रकार इस विश्व के भीतर तो हैं ही, वे इसके चारों ओर भी व्यापक हैं—इस अनन्त विश्व के परे भी वे अनन्त प्रभु व्याप्त हो रहे हैं।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकों में रहने वाली भांति-भांति की कामनाओं वाली प्रजायें—भांति-भांति की कामनाओं वाले भांति-भांति के प्राणी जो अपनी कामनाओं की पूर्ति कर रहे हैं वह सब वरुण प्रभु के नियमों के अनुसार चल कर ही कर रहे हैं। भगवान् ने जड़ जगत् और चेतन जगत् के लिये अनेक प्रकार के नियम बना रखे हैं। जब तक तो प्राणी इन नियमों के अनुसार चलते हैं तब तक तो उनकी कामनाओं की पूर्ति होती है और उन्हें सुख प्राप्त होता है। और जब वे किसी अंश में इन नियमों को तोड़ते हैं तो उन्हें कष्ट प्राप्त होता है। नाना प्राणी जो अपनी कामनाओं की पूर्ति करके सुख पा रहे हैं और अपनी वृद्धि कर रहे हैं वह सब वृद्धि भगवान् के बनाये नियमों के अनुसार चलने से ही हो रही है। जहां हमने प्रभु के नियमों का भंग किया वहीं हमारी उन्नति रुकी।

यहां हमारी वृद्धि का एक रहस्य बताया गया है। प्रजाओं का विशेषण 'उषः' दिया गया है। "उषः" का अर्थ होता है गरमी

वाली। जो प्रजायें, जो लोग, गरमी वाले होंगे, जिनमें जीवन की आग जल रही होगी, वे ही अपनी वृद्धि कर सकेंगे। जिनमें गरमी नहीं है, जिनके शरीर, मन और आत्मा ठण्डे पड़ गये हैं, वे लोग वृद्धि नहीं कर सकते, उनकी उन्नति नहीं हो सकती। उन्नति करने का एक नियम यह है कि लोग अपने जीवन के प्रत्येक अङ्ग को उष्ण रखें।

"उषा:" शब्द सूर्योदय से पूर्व पूर्व दिशा में छा जाने वाली लालिमा युक्त ज्योति को भी कहता है। "वेनी:" का अर्थ कान्तियुक्त, शोभायुक्त भी होता है। मन्त्र के इन शब्दों का यह अर्थ भी हो सकेगा कि मनोहारिणी शोभायुक्त तीनों उषायें उसी प्रभु के व्रतानुसार—उसी के नियमानुसार—बनती और वृद्धि पाती हैं। उषा का भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्बन्ध होने के कारण तीनों उषायें ऐसा कह दिया गया है। उषा की ओर निर्देश करके प्रभु की महिमा के एक और मनोमोहक चमत्कार की ओर हमारा ध्यान खेंचा गया है। हम जरा सोचें तो सही। यह जो उषा प्रतिदिन प्रातःकाल आकर पूर्व दिशा के आकाश में रंग के किसी अखूट भण्डारे में से स्निग्ध लालिमा की कूचियें भर-भर के त्रिभुवन-विमोहक चित्र बनाती रहती है वह किसकी महिमा है? उसी वरुण की तो।

जो लोग इस प्रकार प्रभु के नियमों में चलते हुए, उष्णता का जीवन धारण करके उन्नति की ओर बढ़ते हैं और प्रभु की भक्ति में लीन रहते हैं उनकी समानता दूसरे अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्मा! तू भी उस वरुण के बांधे व्रतों पर चल कर अपनी वृद्धि कर ले।

गोपाल स्वामी

यः ककुभो निधारयः,
पृथिव्यामधि दर्शतः,
स माता पूर्व्यं पदम्।
तद्वरुणस्य सप्त्यम्,
स हि गोपा इवेर्यो,
न भन्तामन्यके समे ॥४॥

अर्थ—(यः) जिस (दर्शतः) दर्शन करने योग्य ने (पृथिव्यां) पृथिवी पर (ककुभः) दिशाओं को (निधारयः) बना कर रखा है (सः) वही (पूर्व्यं) पूर्णतायुक्त (पदं) मोक्षावस्था के आनन्दमय पद का (माता) निर्माण करने वाला है (वरुणस्य) वरुण भगवान् का (तद्) वह मोक्षपद (सप्त्यं) सब के प्राप्त करने योग्य है (सः) वह (इर्यः) स्वामी (हि) निश्चय से (गोपा) ग्वाले की (इव) तरह [हम पशुओं का रक्षक है। जिसे उसकी रक्षा प्राप्त हो जाती है] (समे) उसके बराबर (अन्यके) अन्य कोई (न) नहीं (भन्ताम) हो सकते।

उस दर्शनीय प्रभु की रचना-कुशलता देखो। उसने किस प्रकार इस धरती पर दिशाओं का निर्माण कर रखा है! उसने पहले तो धरती का निर्माण किया। फिर धरती पर के प्रदेश और आकाश को दिशाओं में बांट दिया जिससे हमें धरती पर रहते हुए भांति-भांति के अपने व्यवहार करने में सुगमता होती रहे। यदि प्रभु दिशाओं का विभाग और उनका ज्ञान हमें न कराते तो हमें आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, इधर-उधर आदि का भान न हो सकता और इस भान के बिना हमारा सांसारिक व्यवहार सर्वथा ही न चल सकता। प्रभु ने पृथिवी, सूर्य, ध्रुव तारा, तथा पृथिवी पर के वृक्ष-पर्वतादि की रचना इस प्रकार की है जिससे दिशाओं का विभाग और उनकी प्रतीति हमें सुगमता से हो जाती है। इन पृथिवी-सूर्यादि की रचना यदि वैसी न होती जैसी कि वह है तो हमें यह दिशा-ज्ञान कभी न हो सकता। इस प्रकार प्रभु ने पृथिवी पर यह जो दिशाओं की रचना और स्थिति कर रखी है उससे उनका भारी रचना-कौशल सूचित होता है।

हमारे सांसारिक व्यवहार की सिद्धि के लिये दिशा आदि की जो रचना प्रभु ने की है केवल इतने पर ही उनकी कृपावर्षा समाप्त नहीं हो जाती। भगवान् ने हमें परमोत्कृष्ट सुख देने के लिये अपने पूर्ण पद की रचना भी कर रखी है। यह पूर्ण पद मोक्ष की अवस्था का दूसरा नाम है। पुरुष जब अपने आत्मा को पवित्र बनाता-बनाता पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब उसे यह पद प्राप्त होता है। इसीलिये मन्त्र में इसे पूर्व्य

अर्थात् पूर्णता से युक्त पद कहा है। प्रभु ने अपने वेद-ज्ञान के द्वारा वे नियम प्रकट कर दिये हैं जिनके अनुसार चलने से, हमें यह परम आनन्ददायक मोक्षनामक पूर्ण पद प्राप्त हो सकता है। मोक्ष पद की प्राप्ति का उपदेश देकर प्रभु ने हमारे लिये इस पूर्ण पद का निर्माण कर दिया है। वरुण भगवान् का—वरण करने योग्य, पहचानने योग्य उस दर्शनीय प्रभु का—यह मोक्ष पद हम सबके लिये सप्तय है, प्राप्तकरने योग्य है। वरणीय प्रभु का साक्षात्कार करके मोक्ष पद में पहुँचने से ही क्योंकि हमें सब से उत्कृष्ट और पूर्ण आनन्द प्राप्त हो सकता है इसलिये यह पद सचमुच ही हम सब के प्राप्त करने योग्य है।

भगवान् इस प्रकार भांति-भांति से हमारे सुख मंगल का संविधान करके हमारी रक्षा कर रहे हैं। वे स्वामी हमारी इस प्रकार रक्षा कर रहे हैं जिस प्रकार कोई गोपाल अपने पशुओं की रक्षा करता है। गोपाल जैसे अपने पशुओं की रक्षा के लिये उनके दाने-पानी आदि सबका प्रबन्ध करता है उसी तरह प्रभु ने भी हमारे लिये आवश्यक दाने-पानी आदि सबका पूर्ण प्रबन्ध कर रखा है। गोपाल के पशु यदि उससे परे नहीं भाग जायंगे, उसी की आज्ञा में रहेंगे, तो उन्हें कोई कष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि हम भी प्रभु से परे नहीं भाग जायेंगे और उसी की आज्ञा में रह कर चलेंगे तो हमें भी कोई अभाव, कोई कष्ट, दुःख नहीं दे सकेगा। और इस प्रकार के प्रभु-भक्त उपासकों की तुलना कोई अनुपासक नहीं कर सकेगा।

हे मेरे आत्मा ! तू भी उस परम रक्षक की शरण में जा कर अपने आपको अतुलनीय मंगल का अधिकारी बना ले ।

—:※:०:※:—

छिपे नामों को भी जानने वाला ।

यो धर्ता भुवनानम्,
य उस्त्राणामपीच्या,
वेद नामानि गुह्या ।
स कवि: काव्या पुरु-
रूपं द्यौरिव पुष्यति,
न भन्तामन्यके समे ॥५॥

अर्थ—(यः) जो (भवनानां) लोकों का (धर्ता) धारण करने वाला है (यः) जो [उन लोकों में] (उस्त्राणां) प्रकाशों को धारण करने वाला है, जो (अपीच्या) छिपे हुए और (गुह्या) बुद्धिस्थ (नामानि) नामों अर्थात् बातों को भी वेद) जानता है (सः) उस (कविः) कवि ने ही (काव्या) ये काव्य अर्थात् वेद बनाये हैं अथवा काव्य अर्थात् गहरे ज्ञान के कार्य किये हैं, वही (द्यौः) सूर्य की (इव तरह (पुरुरूपं) बड़े-बड़े रूप वाले पिण्डों को (पुष्यति) पुष्टि देता है [ऐसे प्रभु की अर्चना करने वाले व्यक्ति के] (समे) समान (अन्यके) दूसरे लोग (न) नहीं (भन्ताम्) हो सकते ।

भगवान् सब लोक-लोकान्तरों के धर्ता हैं। इन सब लोकलोकान्तरों का निर्माण करके इनका धारण भी उन्हीं ने कर रखा है। उनका धारण करने वाला हाथ यदि इन की सत्ता की तह में न होता तो ये लोकलोकान्तर और इनके भांति-भांति के जड़ और चेतन पदार्थ कभी अपनी सत्ता नहीं रख सकते थे। इनको धारण करके इनके लिये आवश्यक प्रकाश की रचना और उसके प्रदान का प्रबन्ध भी उसी धर्ता प्रभु न किया है। यदि भगवान् प्रकाश की रचना करके उसके प्रदान का प्रबन्ध न करते तो ये लोक-लोकान्तर निरे प्रकृति के ढेर मात्र रह जाते। इन में प्राणियों और वनस्पतियों का निवास न हो सकता। भगवान ने प्रकाश का प्रम्बन्ध करके इन्हें निवास के योग्य बना दिया है।

भगवान् में जहां इस प्रकार लोक-लोकान्तर और प्रकाश जैसे अद्भुत पदार्थों को रचने का कौशल है वहां उनका ज्ञान भी अद्भुत है। वे छिपे हुए गुह्य नामों को भी जानते हैं। जो नाम, जो पदार्थ, जो बातें, और सब से छिपी हुई हैं वरुण प्रभु उन सबको भी जानते हैं। जो बातें किसी पुरुष की बुद्धि में ही आई हैं, क्रिया में अभी नहीं आई हैं, उनको भी वे वरुण भगवान् जान लेते हैं। उनसे कुछ भी तो छिपा नहीं रह सकता। उनके अन्दर अपना स्वाभाविक ज्ञान भी असीम है। वे कवि हैं। उन्होंने अपने कविपन से, अपने क्रान्तदर्शित्व गुण से, प्रत्येक वस्तु का गहरा मार्मिक ज्ञान रखने की अपनी शक्ति से, काव्यों की रचना की है। वेद-ज्ञान रूप काव्य ग्रन्थ की रचना की है।

और इस काव्य की रचना के साथ साथ प्राकृतिक जगत् में भी उन्होंने काव्यों अर्थात् गहरे ज्ञान के परिणाम भांति-भांति के पदार्थों की रचना की है। अपने इस गहरे ज्ञान के कारण ही वे प्रभु सूर्य जैसे विशाल रूप वाले पिण्डों की रचना कर पाते हैं और रचना के अनन्तर उन्हें पुष्टि देते रहते हैं। सूर्य की विशालता का इससे अनुमान हो जायेगा कि हमारी पृथ्वी एक ऐसा गोला है जो ८ सहस्र मील मोटा और २४ सहस्र मील घेरे वाला है। सूर्य इस भूमि से भी १३ लाख गुणा बड़ा है। इस भूमि का बोझ १६ सहस्र शंख मन है। सूर्य का बोझ इससे भी ३ लाख ३० सहस्र गुणा है। विश्व में ऐसे-ऐसे और इससे भी बहुत बड़े असंख्य सूर्य हैं। इन सूर्यों की रचना और धारण कवि भगवान् ही कर सकते थे। इनको रच कर इनकी पुष्टि भी वे ही कवि प्रभु कर रहे हैं। इस सूर्य में से प्रतिक्षण असीम परिमाण में प्रकाश और उष्णता निकल कर क्षीण हो रहे हैं। और अरबों वर्षों से यह क्षीणता की प्रक्रिया चल रही है। फिर भी यह सूर्य ठण्डा नहीं होने पाता। इस की उष्णता में लाखों वर्षों में कुछ न्यूनता आती हो तो आती हो। जिस वेग से इसका प्रकाश और उष्णता व्यय हो रहे हैं, उस वेग से तो यह शीतल कदापि नहीं हो रहा। इसका कारण यही है कि कवि प्रभु अपने रचना-कौशल से इसे पुष्टि देते जाते हैं और इसीलिये यह बहुत शीघ्र शीतल और क्षीण नहीं हो रहा है।

ऐसे कवि प्रभु के उपासक की तुलना दूसरे अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्मा! तू भी उस प्रभु की शरण में जा जो हमारे मन के छिपे रहस्यों को भी जानता रहता है।

उस में सब काव्य चक्र में नाभि की भांति आश्रित हैं

यस्मिन् विश्वानि काव्या,
चक्रे नाभिरिव श्रिता,
त्रितं जूती सपर्यत,
व्रजे गावो न संयुजे,
युजे अश्वाँ अयुक्षत,
न भन्तामन्यके समे ॥६॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस वरुण भगवान् में (विश्वानि) सब (काव्या) वेद अथवा गहरे ज्ञान के सृष्टि-रचनादि कर्म (चक्रे) पहिये में (नाभिः) नाभि की (इव भांति (श्रिता) ठहरे हुए हैं (त्रितं) तीनों लोकों में फैले हुये अथवा विज्ञानादि में सबसे बढ़े-चढ़े उस भगवान् की (जूती) प्रीति पूर्वक और शीघ्र ही (सपर्यत) पूजा करो (व्रजे) बाड़े में (न) जैसे (गावः) गौवें (संयुजे) मिल कर रहने के लिये (युजे) इकट्ठी रहती हैं [वैसे ही हे मनुष्यो तुम भी मिल कर रहो] और (अश्वान्) घोड़ों को (अयुक्षत) जोड़ लो [जिससे तुम्हारी व्यवहार सिद्धि होती रहे] (समे) तुम्हारे समान (अन्यके) दूसरे लोग (न) नहीं (भन्ताम्) हो सकते।

पहिये के बीच में जैसे उसकी नाभि ठहरी हुई होती है उसी तरह वरुण भगवान् में सब काव्य ठहरे हुए हैं। काव्य का अर्थ वेद-ज्ञान होता है। सारा वेद-ज्ञान भगवान् में आश्रित है। उसी भगवान् में से मनुष्यों के कल्याण के लिये वेद का प्रादुर्भाव होता है। काव्य का अर्थ कवि के कर्म अर्थात् गहरे ज्ञान से बनाये हुए प्राकृतिक पदार्थ भी होता है। ये सब काव्य भी भगवान् में ही ठहरे हुए हैं। और भगवान की महिमा से ही इनका प्रादुर्भाव भी होता है। वे भगवान् त्रित हैं। उन्हें त्रित इसलिए कहते हैं कि वे तीनों लोकों में फैले हुये हैं। बुद्धि-विज्ञान में सब से बड़ा होने के कारण भी उन्हें त्रित कहा जाता है। क्योंकि वरुण भगवान् त्रित हैं, तीनों लोकों में फैले हुए हैं और ज्ञान में सबसे ऊंचे हैं, इसीलिये तो उनमें सब काव्य आश्रित हैं। इसीलिये तो उनमें वेदों का और ज्ञानजन्य सूक्ष्म रचना वाले भांति-भांति के प्राकृतिक पदार्थों का ठिकाना है।

ऐसे काव्यधारी त्रित भगवान् की हमें पूजा करनी चाहिये—उपासना के समय श्रद्धा और सत्कार के भावों से उनके आगे झुकना चाहिये। और भगवान् की यह पूजा-उपासना हमें प्रीतिपूर्वक और शीघ्रता से करनी चाहिये। यहां प्रीति और शीघ्रता का वाचक जूती शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द "जुषी" धातु से भी बन सकता है जिसका अर्थ प्रीति करना होता है, और, "जु" धातु से भी बन सकता है जिसका अर्थ गति होता है। भगवान् की उपासना प्रीतिपूर्वक तो करनी ही चाहिये,। क्योंकि प्रीति-पूर्वक की हुई उपासना ही सफल होती है। प्रीति

का यह स्वभाव है कि हम जिससे प्रीति करते हैं उसके गुण अपने अन्दर धारण करने की और सदा उसके समीप रहने की हमारी प्रबल इच्छा रहा करती है। जब हम प्रीति में भर कर भगवान् की पूजा करेंगे तो उनके गुण अपने में धारण करके सदा उनके समीप रहने का यत्न करेंगे और भगवान् के सत्य, न्याय, दया, संयम, नियमानुकूल जीवन, बल, ज्ञान आदि गुण जब हमारे में आ जायेंगे तो हमारे पाप आप ही कट जायेंगे। और जब हमारे पाप कट जायेंगे तो पाप से जन्य दुःख तो स्वयं ही कट जायेंगे। जब पाप ही न रहा तो दुख कहां से आयेंगे। इसलिये भगवान् की उपासना प्रीतिपूर्वक तो करनी ही चाहिये। परन्तु वह उपासना शीघ्र भी करनी चाहिये। यहां शीघ्र का यह भाव नहीं है कि प्रभु की उपासना के मन्त्र और श्लोक जल्दी से पढ़ कर समाप्त कर दो। इससे पूर्व दूसरे मन्त्र में हम देख चुके हैं कि हमें प्रभु की उपासना एक-रस वाणी से देर तक गानी चाहिये। यहां शीघ्र का अभिप्राय यह है कि प्रतिदिन हमें और सब कामों से पहले प्रभु की उपासना करनी चाहिये। और कोई काम रह जाए तो रह जाये, पर प्रभु की उपासना नहीं रहनी चाहिये। सब कामों से जल्दी हमें प्रभु की उपासना करनी चाहिये। प्रभु की उपासना में हमें देर नहीं करनी चाहिये। उनकी उपासना को हमें फिर-फिर पर नहीं छोड़ना चाहिये। प्रतिदिन प्रातः और सायं के सांसारिक कामों से पहले हमें भगवान् की उपासना करनी चाहिये। चिरकाल तक निरन्तर प्रेमपूर्वक, तत्परता से की हुई प्रभु-भक्ति

ही हमारा कल्याण कर सकती है। कभी-कभी की ईश्वरोपासना से हमारा विशेष कल्याण नहीं हो सकता।

प्रभु की उपासना करने के अनन्तर हमें अपने दैनिक व्यवहारों में लग जाना चाहिये। और इन व्यवहारों की सिद्धि के लिये हमें आपस में इस प्रकार मिल कर रहना चहिये जैसे बाड़े में खड़ी हुई गौवें मिल कर रहती हैं। बाड़े में खड़ी हुई गौवें तो दूसरों के द्वारा बन्धन में लाकर एकत्र की जाती हैं। परन्तु हम मनुष्यों को हमें मिला कर रखने वाले नियमों का बन्धन रूप बाड़ा स्वयं बना लेना चाहिये। यदि स्वयं यह बन्धन हम न बांध सकें तो कोई अधिष्ठाता नियत कर लेना चाहिये जो हमें मिला कर एकत्र रख सके। सब व्यवहारों की सिद्धि के लिये मनुष्यों का परस्पर मिल कर एकत्र काम कर सकना नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार एकता और सहयोग सम्पादन करके हमें घोड़ों को जोड़ना चाहिये। घोड़ों का जोड़ना उपलक्षण मात्र है। किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिये आवश्यक साधनों का संग्रह करना मानों उद्देश्य की पूर्ति के लिये घोड़ों का जोड़ना है। घोड़े जोड़ कर जब हम किसी स्थानान्तर में जाने लगते हैं तो उस समय जैसी तय्यारी, तत्परता और उत्साह की अवस्था हमारी होती है वैसी ही तय्यारी, तत्परता, और उत्साह की अवस्था प्रत्येक कार्य करने के समय हमारी रहनी चाहिये। घोड़े जोड़ने के समय की यह तय्यारी, तत्परता और उत्साह की अवस्था कार्यसिद्धि का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार है।

जो लोग इस प्रकार के उपासक बन जाते हैं उनकी तुलना दूसरे अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्मा ! तुम भी प्रभु की शरण में जाकर प्रतिदिन अन्य सब कामों से पहले प्रीतिपूर्वक उनकी उपासना करके अपने को साधन-संपन्न बना लो। फिर तुम्हें अनुपम कल्याण प्राप्त होगा।

सब नाम-धाम उसके जाने हैं

य आस्वत्क आशये,
विश्वा जातान्येषाम्,
परि धामानि मर्मृशत्।
वरुणस्य पुरो गये,
विश्वे देवा अनु व्रतम्,
न भन्तामन्यके समे ॥७॥

अर्थ—(यः) जो प्रभु (आसु) इन सृष्टियों में (अत्कः) व्याप्त (आशये) हो रहा है, जो (एषां) इन दिखाई देने वाले सब पदार्थों के (विश्वा) सम्पूर्ण (जातानि) जन्मों को (धामानि) नाम और स्थानों को (परिमर्मृशत्) अच्छी तरह जानता है, (गये) इस संसार में (विश्वे) सब (देवाः) देव (वरुणस्य) उसी वरुण भगवान् के ही (पुरः) समक्ष (व्रतं) अपने कर्मों पर (अनु-) चल रहे हैं, [ऐसे वरुण भगवान् के उपासकों के]

(समे) समान (अन्यके) दूसरे लोग (न) नहीं (भन्ताम्) हो सकते।

प्रभु इन सब सृष्टियों में अत्क हो रहे हैं, व्याप्त हो रहे हैं। यह शब्द "अत सातत्यगमने" धातु से बनता है। इसलिये जो निरन्तर गति करे उसे अत्क कहेंगे। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं। भगवान् में निरन्तर ज्ञान रहता है। उनके ज्ञान में कभी न्यूनता नहीं आती। इसलिये वे अत्क हैं। उनमें गति भी निरन्तर है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां किसी क्षण में भगवान् न पहुंचे हुए हों। वे प्रति क्षण विश्व-ब्रह्माण्ड के पिंडों को गति दे रहे हैं इसलिये भी उनका एक प्रकार से गति से निरंतर सम्बन्ध है। इस लिये वे अत्क हैं। भगवान् की सब पदार्थों में निरन्तर प्राप्ति है, व्याप्ति है, इसलिये भी वे अत्क हैं। ये अत्क, ये सर्वज्ञ, सर्वगत और सर्वव्यापक प्रभु संसार के सब पदार्थों के जन्मों, नामों और स्थानों को जानते हैं। विश्व में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिस के नाम को, स्थान को और जन्म को अर्थात् उत्पत्ति के कारण को प्रभु न जानते हों। उनके लिये संसार का प्रत्येक छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा पदार्थ हस्तामलकवत् है। उनके दिव्य ज्ञान से कुछ भी अगोचर नहीं है। इतना ही नहीं। विश्व में जितने भी जड़ और चेतन देव हैं वे सब वरुण प्रभुके समक्ष—उन के द्रष्टृत्व में—अपने-अपने कर्मों को कर रहे हैं। उसकी इन सबके कर्मों पर इस प्रकार चौकस आंख है जिस प्रकार किसी अधिष्ठाता की अपने छात्रों पर या किसी सेनापति की अपने अधीन-स्थ सैनिकों पर होती हैं। उसने इन सब देवों के लिये अपने

नियम और कर्म बना रखे हैं और फिर वह इन्हें चौकन्नी आंख से देख रहा है कि उन नियमों और कर्मों का ये भलीभांति पालन कर रहे हैं या नहीं। जो इनका भंग करेगा वही वरुण प्रभु के पाशों में बन्ध जायेगा। उसी का या तो जीवन ही नष्ट हो जायेगा या उसे भारी कष्ट उठाने पड़ेंगे। हमारा कल्याण इसी में है कि हम वरुण की आंख को सर्वदा उपस्थित जान कर उसके नियमों की अनुकूलता में रह कर अपना जीवन व्यतीत करें। जो ऐसा जीवन व्यतीत करेंगे उन उपासकों की तुलना अन्य अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्मा! जो सब में व्याप्त हो रहा है, जो सबको देख रहा है, उस प्रभु के व्रतों में चल कर तू भी अपने को अनुपम बनाले।

—:❀:०:❀:—

कुटिलताओं का संहर्ता

स समुद्रो अपीच्यः,
तुरो द्यामिव रोहति,
नि यदासु यजुर्दधे,
स माया अर्चिना पदा-
स्तृणान्नाकमारुहन्,
न भन्तामन्यके समे ॥ ८ ॥

अर्थ—(सः) वह वरणीय और बचाने वाला वरुण भगवान् (अपीच्यः) सब के भीतर छिपा हुआ (समुद्रः) एक समुद्र है, [वह जब किसी को प्रत्यक्ष होता है तो] (तुरः) झट (द्याम्) सूर्य की (इव) तरह (रोहति) चढ़ जाता है (यत्) जो वरुण भगवान् (आसु) इन प्रजाओं में (यज्ञुः) भांति-भांति के दान (निदधे) धारण करता है—देता है (सः) वह (अर्चिना, चमकने वाले (पदा) प्राप्त करने योग्य अपने स्वरूप से (मायाः) कुटिलताओं को (अस्तृणात्) मार देता है, वह (नाकं) आनन्दमय अवस्था में (आरुहत्) पहुंचा हुआ है [ऐसे वरुण भगवान् के उपासकों के] (समे) समान (अन्यके) अन्य लोग (न) नहीं (भन्तात्) हो सकते।

वरुण भगवान् - इस जगत् के सूत्रधार, सबके वरणीय और सबको तरह-तरह से बचाने वाले भगवान्—हम सब के ही भीतर छिपे हुए हैं। पर हमें इन स्थूल आंखों से उनके दर्शन नहीं होते। पर ज्यों ही हम अपने भीतर के—विचार के—चक्षु खोल कर देखते हैं तो हमें अनुभव होता है कि हमारे अन्दर विराज रही, विश्व के कण-कण में विराज रही, यह महाशक्ति समुद्र जैसी गम्भीर, असीम और अपरिमेय है। इसमें से आने वाले भांति-भांति के कल्याणों के बादल समय-समय पर—नहीं क्षण-क्षण में—आकर सुखों की वृष्टि द्वारा हमें आप्लावित करते रहते हैं। जब हमारी यह आन्तरिक विचार की धारा और तीव्र होती है और हमारा उस भगवान् विषयक अनुभव अनुमान की भूमि से उठकर साक्षात्कार के क्षेत्र में पहुंचने लगता है तो हमें ऐसा प्रतीत

होता है कि मानो अज्ञान के सारे आवरण कट गये हैं और हमारे मानसिक आकाश में एक सूर्य चढ़ आया है। अब हमें भगवान् का स्वरूप सूर्य की तरह स्पष्ट, सूर्य की तरह प्रकाशमान और सूर्य की तरह जीवनदायी और मार्ग-प्रदर्शन करने वाला प्रतीत होने लगता है। जैसे कोई सूर्य की सत्ता, और कल्याणकारी सत्ता, के संबन्ध में किसी आंखों वाले के विश्वास को ढीला नहीं कर सकता वैसे ही भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन की इस अवस्था में पहुंचे हुए व्यक्ति को कोई उसकी सत्ता के संबन्ध में अन्यथा नहीं समझा सकता। उसके लिये तो भगवान् सूर्य सा स्पष्ट है। वह तो देख रहा है कि भगवान् हैं और संसार के धर्मात्मा और पापी सबको समान रूप से भांति-भांति के दान दे रहे हैं। वह तो भगवान् के प्राप्त करने योग्य प्रकाशमय स्वरूप में अपने आपको बैठा हुआ अनुभव कर रहा है और अनुभव कर रहा है कि उस भगवान् के अनुभव से शरीर, मन और आत्मा की सारी कुटिलतायें—उनके सारे दोष दूर हो रहे हैं। वह आनन्दमय भगवान् की गोद में बैठ कर अद्भुत, अलौकिक आनन्द की अवस्था में अपने आपको देख रहा है। उसे स्पष्ट दीख रहा है कि उस शक्तिशाली भगवान् जैसी विश्व में और कोई शक्ति नहीं है। भला उसका विश्वास कोई कैसे ढीला कर सकता है? उसे तो भगवान् चढ़े हुए सूर्य सा स्पष्ट दीख रहे हैं।

मन्त्र में भगवान् के दान को यजुः कहा है। यह शब्द जिस धातु से बनता है उसके देवपूजा, संगतीकरण और दान ये अर्थ होते हैं। इसलिये यजुः में ये तीनों भाव समाविष्ट हैं। सब से प्रथम भगवान् ने हमें यजुः अर्थात् देवपूजा सिखाई।

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकाशित किये गये अपने वेद-ज्ञान के दान द्वारा भगवान् ने हमें देव अर्थात् परमात्मा की पूजा की सच्ची विधि सिखाई। परमात्मा से भिन्न विद्वान् पुरुष आदि देवों की पूजा अर्थात् सत्कार किस प्रकार करना चाहिये यह भी उन्होंने वेद-ज्ञान देकर हमें सिखाया। इसके अतिरिक्त भांति-भांति के और भी दान प्रभु हमें दे रहे हैं। भगवान् की संगतीकरण की, मिलाने की, शक्ति द्वारा जो असंख्य पदार्थ विश्व में बने हैं उनका प्रभु हमें सदा दान कर रहे हैं। और प्रभु का यह दान पापी और धर्मात्मा सबके लिये समान रूप से बरस रहा है। यह ठीक है कि प्रभु पापी को कर्मानुसार अपनी न्यायव्यवस्था के अनुसार यथासमय दण्ड भी देते हैं। पर वह दण्ड तो कभी समय पर ही मिलेगा। किन्तु उनकी दया-दान की वृष्टि तो पापी और पुण्यात्मा सब पर प्रतिक्षण हो रही है। उनका वेद-ज्ञान पापी और धर्मात्मा सबके लिये खुला पड़ा है। जो चाहे उसका स्वाध्याय करके लाभ उठा ले। सूर्य का प्रकाश और उष्णता जिनके बिना न कोई जी सकता है और न कोई काम ही कर सकता है, वायु जिसमें सांस लेकर सब जीते हैं, जल जिसे पीकर सब अपनी प्यास बुझाते हैं, धरती जिस पर सब चलते-फिरते और रहते हैं तथा जिसमें से सब अपना भोजन प्राप्त करते हैं, चन्द्र जिसकी मधुर चन्द्रिका में सब आनन्द अनुभव करते हैं—ये सब और अन्य भी असंख्य पदार्थ प्रभु ने पापी और धर्मात्मा सब को दे रखे हैं। भगवान् चाहते तो ऐसा कर सकते थे कि जहां-जहां पापी जाता वहां-वहां से धरती फट कर वह उसमें

समा जाता, वहां-वहां से वायु परे हट जाती और वह सांस घुट कर मर जाता, वहां-वहां सूर्य का प्रकाश और गरमी ही न पड़ा करते, या पापी के खेत में बीज ही न उगा करते। पर प्रभु ऐसा नहीं करते। उन दयानिधि की दया सब पर समान रूप से बरस रही है। भले ही वह समय पर पाप का फल देकर हमें दण्डित भी करदें। और विचार से पता लगेगा कि उनके दण्ड में भी दया का दान है। भगवान् के दण्ड की तह में भी तो यही भाव है कि पापी अपने दुःखों पर विचार करके पाप को दुःख का कारण जान कर सभी पापों से बच कर, पवित्र होकर, मोक्ष सुख का अधिकारी बने। प्रभु के दया-दान का भी कोई अन्त है!

"भगवान् प्रकाशमय और प्राप्त करने योग्य अपने पद से कुटिलताओं को मार देते हैं," मन्त्र के इस वाक्य का भाव भी स्पष्टता से समझ लेना चाहिये। भगवान् का पद, स्वरूप, प्राप्त करने योग्य तो इसलिये है कि मन्त्र में आगे ही कहा है कि वे आनन्दमय अवस्था में पहुँचे हुए हैं। उन्हें प्राप्त करके, पहिचान करके, हम भी आनन्द को प्राप्त करना चाहते हैं। इसीलिये वे प्राप्त करने योग्य हैं। इसी भाव को उनके नाम वरुण के वरणीय इस अर्थ में प्रकट किया जाता है। प्रभु का पद अर्थात स्वरूप प्रकाशमय भी है, चमकीला भी है। भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं। तीनों कालों में ज्ञान उनसे भिन्न नहीं हो सकता। ज्ञान से बढ़ कर और कोई प्रकाश नहीं हो सकता। जिन पदार्थों को और कोई प्रकाश प्रकाशित नहीं कर सकता उन्हें ज्ञान प्रकाशित कर देता है। भगवान् तो ज्ञान के पुंज हैं। इसलिये उनसे बढ़ कर प्रकाश

मय और कौन होगा ? भगवान् का यह प्रकाशमय स्वरूप हमारी कुटिलताओं को मार देता है। वह इस प्रकार होता है कि जब हम प्रभु की ओर चित्तवृत्ति लगा कर उनकी भक्ति करने बैठते हैं और प्रेम में भर कर उनके सत्य, न्याय, दया, ज्ञान, बल, नियन्तृत्व आदि गुणों पर विचार करते हैं तो हमें इनके विरोधी अपने हृदय के असत्य, अन्याय, क्रूरता, अज्ञान, दुर्बलता, अनियमितता आदि दुर्गुणों से घृणा हो जाती है। क्योंकि जिसकी सत्य आदि के निधि प्रभु में प्रेमपूर्ण चित्तवृत्ति लगी है वह अपने में इनके विरोधी असत्य आदि दुर्गुणों को सह ही नहीं सकता। हम इस प्रकार सब अवगुणों को त्याग देते हैं। अवगुण कटने पर हमारी सब कुटिलतायें—सब तिरछी चालें—कट जाती हैं। क्योंक अवगुणी व्यक्ति ही तिरछी चाल चला करते हैं। इस भांति ध्यान किया हुआ प्रभु का पद हमारी कुटिलताओं को मार देता है और हमें पवित्र बना कर अपना आनन्द लूटने का अधिकारी कर देता है।

ऐसे प्रभु के उपासक की तुलना अन्य अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्मा! तुम भी उन प्रभु की शरण में जाकर अपने जीवन की कुटिलताओं का संहार करालो। फिर तुम अनुपम सुख के पात्र बन जाओगे।

—०—

तेतीस देवों का विस्तारक

यस्य श्वेता विचक्षणा,
तिस्रो भूमीरधिक्षितः,
त्रिरुत्तराणि पप्रतुः ।
वरुणस्य ध्रुवं सदः,
स सप्तानामिरज्यति,
न भन्तामन्यके समे ॥ ६ ॥

अर्थ—(यस्य) जिसकी महिमा से (श्वेताः) शुभ्र (विचक्षणाः) प्रकाशमान् (अधिक्षितः) सब को अपने में बसाने वाली (त्रिरुत्तराणि तिस्रः) तेतीस (भूमीः) भूमियें —तेतीस देव— (पप्रतुः) विस्तार को प्राप्त होती हैं और सब का पालन करती हैं (वरुणस्य) उस वरुण भगवान् का (सदः) रहने का स्थान यह जगत् (ध्रुवं) नित्य है (यः) जो वरुण भगवान् (सप्तानां) सातों प्रकार की वेदवाणियों और सप्त अर्थात् गतिशील तथा सदा प्रभु से मिल कर रहने वाले लोगों का (इरज्यति) स्वामी है [ऐसे वरुण भगवान् के उपासकों के] (समे) समान (अन्यके) अन्य लोग (न) नहीं (भन्ताम्) हो सकते ।

वेद में अन्यत्र स्थान-स्थान पर तेतीस देवों का वर्णन आता है । उसी की ओर प्रस्तुत मन्त्र में भी संकेत है । यहां तेतीस की संख्या को "त्रिरुत्तराणि तिस्रः" अर्थात् "तीन हैं पीछे जिनके ऐसे तीन" ऐसा कह कर प्रकट किया गया है । यह तेतीस राशि

के लिखने की ओर इशारा है। तेतीस को यदि अङ्कों में लिखना हो तो तीन के पीछे तीन ही (३३) लिखना पड़ता है। यह कथन का एक कवितामय प्रकार है। मन्त्र में इन तेतीस देवों के लिये भूमि शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ यहां सर्वथा यौगिक लेना होगा। क्योंकि इन देवों की अपनी भी सत्ता है और इन्हीं के द्वारा शेष सब की भी सत्ता है इसलिये इन्हें भूमि कह दिया गया है। भूमि शब्द भू धातु से बनता है जिसका अर्थ सत्ता होता है। साथ ही इन देवों को श्वेत और विचक्षण विशेषण भी दिये हैं। श्वेत का अर्थ होता है शुभ्र, जिसमें कालिमा न हो। सो सारे ही देव ऐसे हैं। उनके सभी गुण निर्दोष होने से कालिमा रहित हैं और इसीलिये मानो श्वेत हैं। विचक्षण का अर्थ सायण ने तेज अर्थात् प्रकाश से युक्त किया है। सभी देवों में अपने ढङ्ग का विचित्र गुणमय प्रकाश है। विचक्षण का अर्थ ज्ञानी, प्रवक्ता ऐसा भी होता है। सो तेतीस देवों में समाविष्ट आत्मा और परमात्मा में तो यह गुण भी पाया ही जाता है। पुनः इन देवों को अधिक्षित् भी कहा है। वह इसलिये कि सब प्राणियों को निवास इन्हीं के कारण प्राप्त होता है। इन देवों का जो विस्तार हो रहा है, ये जो जगत् में नाना रूपों में नाना कर्मों को करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, वह सब वरणीय प्रभु की महिमा से ही है। अपने से भिन्न शेष सब देवों को भांति-भांति का विस्तार वे प्रभु ही दे रहे हैं। उनसे शक्ति और जीवन प्राप्त किये बिना ये देव कुछ भी नहीं बना और कर सकते थे। उसी की महिमा से ये देव सब का पालन-पोषण कर रहे हैं।

यह सारा संसार, जिसमें भगवान् व्याप्त हो रहे हैं, उन वरुण भगवान् ने ही अपनी महिमा से इन देवों द्वारा बनाया है। यहां संसार के लिये सदः शब्द का प्रयोग हुआ है। सदः रहने-बैठने के स्थान को, घर को, कहते हैं। प्रभु क्योंकि इस संसार में सर्वत्र व्याप्त हैं इसलिये एक दृष्टि से मानों यह संसार उनका घर है, उनके बैठने का सभाभवन है इस सदः पदवाच्य जगत् को ध्रुव कहा है—नित्य कहा है। जब प्रभु नित्य हैं तो उनका निवास-स्थान भी तो नित्य ही होना चाहिये। जगत् को ध्रुव अर्थात् नित्य कहने से यह सूचना मिलती है कि जगत् का कारण प्रकृति सदा से है, उसे कभी बनाया न ही गया और न ही भविष्य में कभी उसका नाश हो सकेगा। जो कुछ हमें बनता-बिगड़ता दीखता है वह तो प्रकृति की विकृति अवस्था में ही दीखता है। जगत् प्रवाह से अनादि और अनन्त है, परन्तु एक-एक सृष्टि की दृष्टि से वह बनता और बिगड़ता भी रहता है। ऐसा कोई समय नहीं था जब कि जगत् का कारण प्रकृति न थी और ऐसा भी समय कोई नहीं आयेगा जबकि वह नहीं रहेगी। प्रकृति तो प्रभु की तरह ही ध्रुव है, नित्य है।

शेष मन्त्र में जिन्हें तेतीस देवों और सदः के नाम से कहा है उन्हीं को मन्त्र के पञ्चम चरण में सप्त नाम से कहा है। सप्त का अर्थ होता है गतिशील। प्रकृति, उससे बने जड़ देव और आत्मा, तथा इन जड़ देवों और आत्माओं द्वारा भगवान् की महिमा से बनाया गया यह सारा संसार, सभी गतिशील हैं। इसलिये ये

सभी सप्त हैं। सप्त का अर्थ मिल कर रहने वाला भी होता है। ये सभी प्रभु के साथ मिल कर रहते हैं और परस्पर भी मिलकर रहते हैं इसलिये भी ये सभी सप्त हैं। प्रभु इन सब सप्तों के स्वामी हैं। इन सब पर प्रभु का नियम चलता है। कोई उससे बाहर नहीं हो सकता। यहां सप्त का अर्थ गायत्री आदि सात छन्दों में बंधी वेद की वाणियें भी हो सकता है। प्रभु वेदवाणी के भी स्वामी हैं। हमारे कल्याण के लिये प्रभु ने हमें उस वाणी का दान दिया है। उनकी विभूति असीम है।

ऐसे प्रभु के उपासक लोगों की तुलना अन्य अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्मा! जो विश्व के सब देवों का निर्माता है उसकी शरण में जाकर तू भी उसके गुण-चिन्तन से अपने को निष्कलङ्क बना ले। फिर तेरी विभूति की तुलना नहीं हो सकेगी।

काले-गोरे का निर्माता

यः श्वेताँ अधि निर्णिज-,
श्चक्रे कृष्णाँ अनुव्रता,
स धाम पूर्व्यं ममे।
यः स्कम्भेन वि रोदसी,
अजो न द्यामधारयन्,
न भन्तामन्यके समे ॥१०॥

अर्थ—(यः) जिसने (श्वेतान्) श्वेत और (कृष्णान्) कृष्ण, दोनों प्रकार के (निर्णिजः) रूपधारियों को (अनुव्रता) अपने नियमों में चलने वाला (चक्रे) बनाया है (यः) जिसने (पूर्व्यं) सब से मुख्य (धाम) तेज अर्थात् सूर्य को (ममे) निर्माण किया है (यः) जिस (अजः) अजन्मा ने (न) अब भी (द्यां) सूर्य को (रोदसी) द्यु लोक और पृथिवी लोक को (स्कम्भेन) अपनी धारण-शक्ति से (व्यधारयत्) धारण कर रखा है [उसके उपासक के] (समे) समान (अन्यके) अन्य लोग (न) नहीं (भन्ताम्) हो सकते।

संसार के जितने भी श्वेत और कृष्ण रूप वाले पदार्थ हैं उन सबको भगवान् अपने नियमों पर चला रहे हैं। जिनमें अपना प्रकाश है वे चन्द्र-सूर्यादि पिण्ड श्वेत और जिनमें अपना प्रकाश नहीं है वे धरती आदि पिण्ड कृष्ण हैं। पुनः सोना, चांदी अदि धातुओं जैसे चमकीले पदार्थ श्वेत हैं और मट्टी पत्थर जैसे चमक रहित पदार्थ कृष्ण हैं। मनुष्यों में गुणी व्यक्ति श्वेत हैं और दुर्गुणी व्यक्ति कृष्ण हैं। इसके साथ ही गोरी जातियें श्वेत हैं और काली जातियें कृष्ण हैं। इन सभी तरह के श्वेत और कृष्ण रूप वाले पदार्थों को प्रभु ने अपने नियमों के अनुसार बनाया है और फिर सबको ही वह अपने नियमों में चला रहा है। जो भी उसके नियमों का भंग करेगा उसी को कष्ट भोगना पड़ेगा। जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र स्वभाव वाला है। इसलिये वह बहुत बार प्रभु के नियमों का भंग कर बैठता

है और इसीलिये उसे वरुण भगवान के पाशों में बंध कर दुःख भोगना पड़ता है। बिना प्रभु के नियम भंग किये किसी को दुःख नहीं मिल सकता। इसलिये जब हमें दुःख मिले तो समझ लो कि हमसे कहीं न कहीं कोई प्रभु का नियम टूटा है।

छोटे-मोटे श्वेत और कृष्ण पदार्थों के निर्माण तक और उन्हीं को अपने नियमों के वश में चलाने तक प्रभु की महिमा समाप्त नहीं हो जाती। सूर्य जैसे प्रमुख तेजस्वी, तथा द्यु लोक में चमकने वाले असंख्य तेजस्वी पिण्डों जैसे श्वेत पदार्थों को तथा पृथिवी जैसे प्रकाशहीन कृष्ण पदार्थों को भी, जिनकी रचना और गति के नियमों को समझ कर बुद्धि आश्चर्य में रह जाती है, प्रभु ने ही बनाया है, वही अपनी स्कम्भ-शक्ति से, स्तम्भ-शक्ति से, धारण शक्ति से, इन्हें धारण कर रहा है। जैसे किसी घर के स्तम्भ पर उसकी छत की कड़ियें टिकी होती हैं वैसे ही सूर्यादि असंख्य ब्रह्माण्ड प्रभु की शक्ति के सिर पर ही खड़े हैं। उसी शक्ति से प्रेरित और धारित होकर वे सब अपना-अपना आश्चर्य-मय कर्म कर रहे हैं।

यहां प्रभु को अज कहा है। वे कभी उत्पन्न नहीं हुए। वे सदा से चले आ रहे हैं। जब भगवान् अज हैं, सदा से हैं तो उनकी स्कम्भ-शक्ति, धारण शक्ति भी उनमें सदा से रहेगी। और जब उनकी धारण शक्ति सदा से है तो वह जगत् भी सदा से मानना पड़ेगा जिसे वह शक्ति धारण करती है।

दूसरे शब्दों में जगत् भी एक दृष्टि से प्रभु की तरह ही अज है, कभी उत्पन्न नहीं हुआ। अर्थात् प्रकृति रूप में जगत् सदा से चला आ रहा है। इस प्रकृति की विकृति, परिणाम, सूर्य-चन्द्रादि रूप में प्रभु द्वारा बनाये जाते और धारण किये जाते रहते हैं। यदि एक समय से पूर्व प्रकृति न होती तो उस से पूर्व सूर्यादि भी न बन और धारित हो पाते। और इसीलिये उस से पहले भी प्रभु में धारण शक्ति थी ऐसा न कहा जा सकता। यहां प्रभु को "अज" कहने की स्पष्ट ध्वनि है कि वह अजन्मा अनादि काल से सूर्य-पृथिव्यादि श्वेत और कृष्ण पदार्थों को बना कर धारण करता आ रहा है। और इस कथन की दूसरी ध्वनि यह भी हो जाती है कि भगवान् की तरह ही सूर्यादि विकृतियों का कारण प्रकृति भी अज है, अजन्मा है, अनादि है।

ऐसे महिमाशाली अजन्मा प्रभु के उपासक लोगों की तुलना अन्य अनुपासक लोग नहीं कर सकते।

इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में "न भन्तामन्यके समे" यह चरण आया है। इसका शब्दार्थ है—"दूसरे बराबर नहीं हो सकते।" हमने मन्त्रों का अर्थ करते हुए इस चरण की संगति इस प्रकार लगाई है कि ऐसे महिमाशाली प्रभु के उपासक की तुलना दूसरे अनुपासक लोग नहीं कर सकते। इस चरण की संगति इस प्रकार भी हो सकती है कि ऐसे महिमाशाली प्रभु की तुलना कोई और नहीं कर सकते। दोनों ही संगतियें हो सकती हैं। यह चरण प्रभु की भी विभूति को कह सकता है और उसके भक्तों की भी।

हे मेरे आत्मा! उस सबके स्रष्टा प्रभु की शरण में जाकर उसकी महिमा का अनुभव करके, उसके आगे नतमस्तक हो जा। फिर तुझे अनुपम मंगल प्राप्त होंगे।

—०—
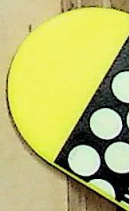
दशम सूक्त

(अथर्व० १ । १०)

देवों का असुर

अयं देवानामसुरो विराजति,
वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान,
उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥१॥

(अयं) यह (देवानाम्) देवों का (असुरः) प्राणदाता, बुद्धिदाता और गतिदाता वरुण भगवान् (विराजति) अपनी महिमा से संसार में खूब चमक रहा है (हि) क्योंकि (सत्या) संसार में सत्ता रखने वाले सब सत्य पदार्थ अथवा सत्य ज्ञान, सत्य भाषण और सत्य कर्म (राज्ञः) राजा (वरुणस्य) वरुण के (वशा) वश में हैं अथवा (राज्ञः) राजा (वरुणस्य) वरुण की

(वशा) वेदरूप वाणी (सत्या) सत्य है, सत्य ज्ञान से युक्त है (ततः) इसलिए (ब्रह्मणा) उसके वेदज्ञान से (परिशाशदानः) तीक्ष्ण अर्थात् निर्मल बुद्धि होता हुआ मैं (इमं) अपने इस आत्मा को (उग्रस्य) पापियों के लिये उग्र स्वभाव वाले वरुण के (मन्योः) क्रोध से (उन्नयामि) मुक्त करता हूं।

सबके वरणीय और सबको बचाने वाले वरुण भगवान् देवों के असुर होकर चमक रहे हैं। जल पृथिवी, वायु, अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि जड़ देव और विद्वत्पुरुष रूप चेतन देव, जितने भी संसार में देव हैं, वरुण भगवान् उन सब के असुर हैं। असुर का अर्थ है प्राणदाता, बुद्धिदाता और गतिदाता। संसार के भांति-भांति के देवों में जो प्राण है, जो जीवन है, वह सब उनको प्रभु से ही प्राप्त होता है। उनका जीवन और उनकी सत्ता जितने समय तक भी बने रहते हैं वे प्रभुकी महिमा और इच्छा के कारण ही बने रहते हैं। जिस क्षण भगवान् उनमें प्राण रखना नहीं चाहते, जिस क्षण भगवान् उन्हें नष्ट करना चाहते हैं, उस क्षण से आगे संसार के किसी भी तो देव में अपने प्राण, अपनी सत्ता रख सकने की शक्ति नहीं है। न केवल इन देवों का प्राण—इनके शरीर का जीवन और सत्ता—ही वरुण की महिमा और इच्छा पर निर्भर है प्रत्युत इनकी गति, इनकी नाना भांति की चेष्टायें, भी उसी वरुण के आधार पर हैं। आकाश में परिभ्रमण करने वाले पृथिवी, चन्द्र, सूर्यादि महापिण्डों की ज्योतिष शास्त्र द्वारा जानी जाने वाली प्रचण्डगतियों से लेकर एक तृण के हिलने तक

की सभी गतियें जो संसार के जड़ और चेतन देवों में पाई जाती हैं उन सब का अन्तिम आधार वरुण भगवान् ही हैं। ये सब देव वरुण देव के निर्धारित नियमों में रह कर ही अपनी-अपनी भांति-भांति की गतियें कर रहे हैं। जिस क्षण भगवान् इनकी गतियों को छीनना चाहेंगे उससे अगले क्षण में इनमें कुछ भी गति करने का सामर्थ्य नहीं रह जायेगा। उस समय ये सब गति-शून्य हो जायेंगे। और जिस समय वरुणदेव विश्वब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण पदार्थों की ही गति को बन्द करना चाहेंगे उस समय संसार संसार नहीं रहेगा, उस समय प्रलय हो जायेगी। फिर वरुण भगवान् का असुरत्व यहीं समाप्त नहीं हो जाता। चेतन देवों के लिये तो वे बुद्धिप्रदाता होने के कारण भी असुर हैं। यह ठीक है कि हमारे आत्मा स्वभाव से ज्ञानस्वरूप हैं। परन्तु संसारावस्था में आत्मा का यह स्वाभाविक गुण जिस मन या मस्तिष्क की सहायता से प्रकाशित होता है वह मस्तिष्क हमें अपने कर्मानुसार वरुण देव की कृपा से ही प्राप्त होता है। यदि हमारे कर्म उत्कृष्ट हैं तो हमें उत्कृष्ट मस्तिष्क प्राप्त होता है। और यदि हमारे कर्म मध्यम या निकृष्ट हैं तो हमें मध्यम या निकृष्ट श्रेणी का मस्तिष्क प्राप्त होता है। संसारावस्था में हमारी बुद्धि की सूक्ष्मता और स्थूलता का कारण यही हमारा मस्तिष्क होता है। भगवान् हमारे कर्मानुसार इस मस्तिष्क के प्रदान द्वारा हमारी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति को भी एक दूसरे की अपेक्षा से कम या अधिक कर देते हैं। इस प्रकार प्रभु का यह असुरत्व उनकी महिमा का सूचक है। और अपनी इस असुरत्व की महिमा के कारण

भगवान् संसार में सर्वोपरि विराजमान होकर चमक रहे हैं। जिनकी आंखें हैं, जो संसार के पदार्थों पर गम्भीरता से सोचते और विचारते हैं उन्हें सचमुच वरुण भगवान् असुर होकर चमकते हुए दिखाई देते हैं।

भगवान् में यह असुर होने की, सब के प्राणदाता, गतिदाता और बुद्धिदाता होने की, शक्ति किस कारण है ? इसके लिये कहा, क्योंकि सब "सत्य" वरुण के "वश" में हैं इसलिये वे सब के असुर होकर चमक रहे हैं। सब "सत्य" वरुण के "वश" में हैं इस कथन का एक अभिप्राय तो यह है कि संसार के सभी सत्य अर्थात् सत्ताधारी पदार्थ वरुण भगवान् के वश में हैं। जो जिसके वश में होता है उसको प्राण, गति और बुद्धि तो अपने उस वशकर्ता से ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि जगत् के सब जड़ और चेतन सत्य देव वरुण भगवान् के वश में हैं इसलिये इन देवों को प्राण, गति और बुद्धि वरुण से ही प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु ये सब सत्य अर्थात् सत्ताधारी देव वरुण के वश में ही क्यों हैं ? इसका भी उत्तर इसी वाक्य में आ गया कि सब "सत्य" वरुण के "वश" में हैं। सब सत्यज्ञान, सत्यभाषण और सत्यकर्म वरुण भगवान के वश में हैं। कोई ऐसा सत्य ज्ञान, सत्य भाषण और सत्यकर्म नहीं है जो वरुण भगवान् में न हो। दूसरे शब्दों में वरुण भगवान् पूर्ण सत्यज्ञानी, पूर्ण सत्यभाषी और पूर्ण सत्यकर्मी हैं। संसार के सब पदार्थों का भगवान् को पूर्ण सत्यज्ञान है। वेद के रूप में भगवान् ने अपने सत्य ज्ञान का पूर्ण सत्यभाषण किया है—उनकी इस वेदवाणी में एक भी पद

असत्य का द्योतक नहीं है। और भगवान् सृष्टि चक्र को चलाने के लिये जो कर्म कर रहे हैं वे भी पूर्ण सत्य पर आश्रित और इसी लिये पूर्ण सत्यकर्म हैं। जिसमें जितना ही अधिक सत्यज्ञान, सत्यभाषण और सत्यकर्म होगा दूसरे व्यक्ति उतना ही अधिक उसके वश में रहेंगे। और इसीलिये वह उतने ही अधिक अंश में उनके लिये असुर होगा—प्राणदाता, गतिदाता और बुद्धिदाता होगा। भगवान् में सब से बढ़ कर सत्य है। उनके सत्यज्ञान, सत्यभाषण और सत्यकर्म की कोई भी तुलना नहीं कर सकता। उनमें सत्य की पूर्णता है, सत्य की पराकाष्ठा है। इसीलिये विश्व के सब जड़ और चेतन उनके वश में हैं। और इसीलिये वे विश्व के सब जड़ और चेतन के असुर हैं — प्राणदाता, गतिदाता और बुद्धिदाता हैं।

संसार के सब पदार्थों को सत्य नाम से कहने की एक यह भी ध्वनि है कि ये सब पदार्थ वस्तुतः सत्ता रखते हैं। ये मिथ्या नहीं हैं। इनकी जो सत्ता प्रतीत हो रही है वह सत्य है, कल्पित नहीं है। साथ ही, जब सब पदार्थों को वरुण भगवान् के वश में कहा तो इसकी यह भी ध्वनि है कि जब सभी कुछ वरुण के वश में है तो पापी व्यक्ति को समझ लेना चाहिये कि वह भी उनके वश में है। वह उनकी पकड़ से बच नहीं सकता। उसे पाप का फल भोगना पड़ेगा। उससे बचने का एक ही उपाय है कि वह मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहे अनुसार वेद के स्वाध्याय से अपने को निर्मल बना ले।

मन्त्र के "वशा" और "सत्या" पद यदि बहुवचनान्त माने जायें तब तो इनका वह भाव होगा जो अभी ऊपर दिखाया गया है। परन्तु ये दोनों पद एकवचनान्त भी हो सकते हैं। उस अवस्था में "सत्या" को स्त्रीलिंग "वशा" शब्द का विशेषण मानना होगा। वशा वैदिक साहित्य में वाणी को कहते हैं। और फिर वाणी शब्द वेदविद्या का वाचक होता है। वरुण की "वशा सत्या" है, मन्त्र के इस कथन का अर्थ यह होगा कि भगवान् वरुण की वेदवाणी के रूप में दी हुई विद्या सत्य है, उसमें जो कुछ कहा गया है वह सर्वथा सत्य है। इस कथन का तात्पर्य यह होगा कि क्योंकि भगवान् सत्यज्ञानमयी वेदविद्या के उपदेष्टा हैं इसलिये वे भी सत्यज्ञानी और सत्यकर्मी बन जाते हैं। क्योंकि पूर्ण सत्य-विद्या, पूर्ण सत्यज्ञानी और सत्यकर्मी से ही निकल सकती है। और इस प्रकार क्योंकि भगवान् पूर्ण सत्यज्ञानी और सत्यकर्मी हैं इसलिये वे सब के असुर हैं—प्राणदाता, गतिदाता और बुद्धिदाता हैं।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में इस प्रकार भगवान् की महिमा का वर्णन करके उसके उत्तरार्द्ध में उपासक कहता है कि मैं उस पूर्ण सत्य-मय प्रभु से मिलने वाले सत्यज्ञानमय ब्रह्म अर्थात् वेद का स्वाध्याय करके अपने आपको तीक्ष्ण बना लेता हूँ—निर्मल बना लेता हूं। और इस प्रकार मेरे पापाचारी होनेकी अवस्था में उग्र वरुण का – प्रचण्ड शक्ति शाली प्रभु का—जो क्रोध मुझ पर पड़ता उससे अपने आपको बचा लेता हूं। तात्पर्य यह है कि सत्यमय भग-वान् के सत्यमय वेद का स्वाध्याय और मनन करने से उपासक भी

सत्यज्ञानी बन जाता है। और उसके सत्यज्ञानी बन जाने से उसके आत्मा पर के पापाचरण जन्य मैल दग्ध हो जाते हैं, वह स्वच्छ, निर्मल, निष्पाप निकल आता है। हम से जो पापाचरण होते हैं उसका मूल कारण हमारा अज्ञान होता है। यदि हम पूर्ण ज्ञानी हों तो हम से कोई भी पापाचरण न हो सके। वेद का गहरा स्वाध्याय और मनन करने से हमारा अज्ञान कट जाता है और इसीलिये फिर हम से कोई पापाचरण नहीं हो सकता। जब हम से कोई पापाचरण ही नहीं होता तो भगवान् वरुण का क्रोध भी हम पर नहीं गिर सकता। उनके क्रोध का पात्र तो पापाचारी व्यक्ति ही होते हैं।

मन्त्र में भगवान् के क्रोध को मन्यु कहा है। मन्यु और क्रोध में भेद समझ लेना चाहिये। मन्यु शब्द "मन्" धातु से बनता है जिसका अर्थ होता है विचार करना। इसलिये मन्यु का अर्थ हुआ वह क्रोध जो विचार पूर्वक किया जाये। जो क्रोध विचार पूर्वक नहीं होता, केवल क्षणिक आवेश में आकर किया जाता है, वह एक तो क्रोध करने वाले व्यक्ति को पागल सा बना देता है—उसके होशहवास गुम कर देता है, और दूसरे वह क्रोध दूध के उबाल की तरह थोड़ी देर तक ही रह कर ठण्डा पड़ जाता है—उस में स्थिरता नहीं होती। परन्तु जो क्रोध विचारपूर्वक किया जाता है उसमें आवेश का स्थान नहीं होता और इसीलिये वह क्रोध करने वाले को पागल नहीं बनाता—उसके होशहवास को गुम नहीं करता। दूसरे यह क्रोध क्षणिक नहीं होता, इसमें स्थिरता होती है। जब तक वह बात नहीं मिट जाती जिसके लिये क्रोध किया जाना आवश्यक समझा गया था तब तक वह क्रोध शान्त

नहीं होता। क्रोध में अंधा उबाल और अस्थिरता होती है और मन्यु में विचारमयी शान्तमुद्रा और स्थिरता होती है। भगवान् का क्रोध मन्यु है। इसीलिये वे सदा शान्तमुद्रा में रहते हैं। परन्तु अपने इस मन्यु को तब तक हम पर से नहीं हटाते जब तक हम पापाचरण से परे हट कर निष्पाप नहीं बन जाते!

हे मेरे आत्मा! प्रभु के वेद ज्ञान का गम्भीर स्वाध्याय करके अपने आपको निर्मल बनाले। फिर तू उस प्रभु के मन्यु से मुक्त हो जायेगा।

—०—

स्वयं उसके भक्त बनो और अन्यों को बनाओ

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे,
विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान् प्रसुवामि साकम्,
शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ ८॥

अर्थ – (उग्र) पापियों के लिये उग्र स्वभाव वाले हे भगवन् आप (विश्वं) सब प्रकार के (द्रुग्धम्) हमारे धर्माचरण के द्रोहों को—अपराधों को (हि) निश्चय से (निचिकेषि) भली भांति जानते हो (राजन्) हे सब के राजा (वरुण) वरण करने योग्य और बचाने वाले भगवन् (मन्यवे) पापियों के लिये क्रोधमूर्त्ति (ते) आपको (नमः) मेरा नमस्कार (अस्तु) होवे (साकं) अपने साथ ही, मैं (सहस्रं) सहस्रों (अन्यान्) औरों को भी (प्रसुवामि) प्रेरणा करता हूं [जिससे वे भी आपको नमस्कार

करें] (अयं) यह (तव) तेरा उपासक (शतं) सौ (शरदः) वर्ष तक (जीवाति) जीवित रह सके।

गत मन्त्र में बताया गया था कि उपासक प्रभु के वेदज्ञान को सीख कर और उसके अनुसार अपने आचरण ढाल कर भगवान् के क्रोध से बच सकता है। परन्तु हमारा यह वेदज्ञान सूखा वेद-ज्ञान नहीं रहना चाहिये। यदि हम इस वेदज्ञान को अपने लिये सचमुच मंगलकारी बनाना चाहते हैं तो इस में प्रभु-भक्ति का पुट लगा रहना चाहिये। वेदज्ञान के साथसाथ हमारी मनोवृत्ति प्रेम में भर कर प्रभु के प्रति नमस्कार और झुकने की भावनाओं से भरी होनी चाहिये। हमारे अन्दर ज्ञान और भक्ति का पूरा सामञ्जस्य रहना चाहिये। तभी हमारा जीवन आदर्श बन सकेगा। खाली ज्ञान का जीवन हमें निष्पाप भले ही बनादे पर प्रभुभक्ति के बिना उस में रस नहीं उत्पन्न हो सकता, मिठास नहीं आ सकता। प्रभु के आगे झुकने की प्रेममयी वृत्ति ही हमारे जीवन में मिठास भर सकती है। ज्ञान के बिना अकेली भक्ति अंधी होती है और भक्ति के बिना अकेला ज्ञान सूखा रहता है। ज्ञान और भक्ति के समुच्चय से जीवन असल में जीवन बनता है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि हे राजा वरुण, मैं उपासक आपको नमस्कार करता हूं—आपके प्रेम में भर कर झुकता हूं।

यदि हम अपने आपको हमारे पाप कर्मों के अनुसार मिलने वाले दुःख से बचाना चाहते हैं तो हमें राजा वरुण का हम पर गिरने वाला मन्यु, क्रोध, किसी तरह रोकना चाहिये। भगवान्

के मन्यु को रोकने का एक ही उपाय है। और वह उपाय गत मन्त्र और प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार बताया गया है कि वेदज्ञान सीखकर तथा वरुण भगवान् की भक्ति करके हमें अपने आपको निष्पाप बना लेना चाहिये। वेद ज्ञान तो हमें सीधे रूप में ही यह बतायेगा कि हमारा क्या कर्त्तव्य है और क्या नहीं। भगवान् की भक्ति भी हमें प्रकारान्तर से कर्त्तव्य का ही उपदेश करेगी। हम भक्ति के समय प्रेम में भर कर जब भगवान् के उत्कृष्ट गुणों का कीर्तन करेंगे और उनके आगे अपना मस्तक झुकायेंगे तो हमें स्पष्ट ही यह प्रतीति होगी कि भगवान् के उत्कृष्ट गुण तो ग्रहण करने योग्य हैं और इनके विरोधी हमारे अवगुण छोड़ने के योग्य हैं। इस प्रकार वेद-ज्ञान और प्रभु-भक्ति हमें एक ही जगह ले जाते हैं। इन दोनों का उद्देश्य वस्तुतः एक ही है। आदर्श प्रभुभक्त का चरित्र वैसा ही होगा जैसा कि एक आदर्श वेदज्ञ का होना चाहिये। और आदर्श वेदज्ञ का चरित्र वैसा ही होगा जैसा कि आदर्श प्रभु-भक्त का होना चाहिये। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये गत मन्त्र में वेद के लिये "ब्रह्म" शब्द का प्रयोग किया गया था जो कि परमात्मा का भी वाचक है। वेद-ब्रह्म और पर-ब्रह्म दोनों का ही चिन्तन और मनन हमें निष्पापता की ओर ले जाता है। इनमें से किसी एक का चिन्तन दूसरे के चिन्तन का सहायक है, विरोधी नहीं। इसलिये हमें वेद और वेदोपलक्षित अन्य सत्य शास्त्रों का स्वाध्याय और प्रभु-भक्ति इन दोनों का ही सहारा लेकर अपने आपको निष्पाप बनाने की राह पर चल पड़ना चाहिये।

वेद और वेदोपलक्षित शास्त्रों का स्वाध्याय जहां हमें सत्यज्ञा
का प्रकाश देकर कर्त्तव्य का मार्ग सुझायेगा और इस प्रकार पा
से बचायेगा वहां वेद के प्रदाता प्रभु की भक्ति हमें प्रकारान्त
से कर्त्तव्य का मार्ग सुझा कर पाप से बचाने के साथ-सा
हमारे अन्दर नम्रता की भावना दृढ़ करके हमारे जीवन
रसीला बनाने का काम भी करेगी। इस मार्ग के अवलम्बन
के अतिरिक्त पाप से बचने और इसीलिये प्रभु के मन्यु से बच
का और दूसरा उपाय नहीं है। अपने आत्मा को निष्पाप
बना कर केवल ऊपर-ऊपर से भगवान् की प्रार्थना करने से
और यह कहते रहने से कि महाराज "हमें क्षमा करो, हमें
क्षमा करो," भगवान् का मन्यु नहीं उतर सकता। क्योंकि वह
आवेश में भर कर किया हुआ सामान्य क्रोध नहीं है। वह तो
विचार कर शान्त-मुद्रा के साथ किया हुआ मन्यु नामक
क्रोध है जो कि अपने उद्देश्य की पूर्ति से पहले नहीं उत
सकता। भगवान् के मन्यु का उद्देश्य हमें पवित्र बनाना है
जब तक हम पापाचरण त्याग कर सचमुच पवित्र नहीं बन
जायेंगे तब तक भगवान् का मन्यु भी हम पर गिरना बन्द नहीं हो
सकता। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत मन्त्र में
रूपकालङ्कार से भगवान् को मन्यु कह दिया है—प्रभु को ही
मन्यु रूप बना दिया है। जिसकी व्यंजना यह है कि मन्युवाले
व्यक्ति को तो हम उस से क्षमा याचना आदि करके किसी
समय तय्यार भी कर सकते हैं कि वह हम पर अपना मन्यु
न गिराये। पर जो है ही मन्यु रूप, जो मन्यु से भिन्न है ही कुछ

नहीं, उससे भला क्या मन्यु शान्त करने के लिये क्षमा-प्रार्थना की जाये ? मन्यु वाला तो अपने मन्यु को शान्त भी कर ले, पर मन्यु स्वयं अपने आप को शान्त कैसे कर सकेगा ? भगवान् के इस आलंकारिक वर्णन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि हमारे निष्पाप बनने से पहले भगवान् का मन्यु हम पर गिरना बन्द नहीं हो सकता।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि वरुण का मन्यु हमें निष्पाप किस प्रकार बनायेगा। इसका समाधान यह है कि हमारे विभिन्न पापों के कारण वरुण का मन्यु हम पर गिरता है। इसके फलस्वरूप हमें भांति-भांति के दुःख भोगने पड़ते हैं। जब हम अपने और अपने आस पास के प्राणियों को मिल रहे भांति-भांति के कष्टों पर विचार करेंगे तो हमारे मन में विचार उठेगा कि भगवान् तो न्यायकारी हैं इसलिये वे किसी को भी यों ही अकारण कोई दुख नहीं दे सकते। हम सबको जो दुख मिल रहे हैं उनका कोई कारण अवश्य होगा। वह कारण हमारे दुष्कर्म ही हो सकते हैं। इसलिये हमें जो दुःख मिल रहे हैं वह हमारे दुष्कर्मों के कारण ही हमें मिल रहे हैं। हम नहीं कह सकते कि हमारे कौनसे दुष्कर्म का फल हमारा कौनसा दुःख है। इसलिये अच्छा यही है कि हम अपने सभी दुष्कर्म त्याग दें। जब हममें कोई भी दुष्कर्म न रह जायेगा तो हमें कोई भी दुःख नहीं मिल सकेगा। इस विचार के फलस्वरूप हम पापाचरण को छोड़ कर निष्पाप बन जाते हैं।

इस प्रकार भगवान् का मन्यु हमें निष्पाप बनाने में सहायक होता है।

जब तक हम पापाचरण से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाते, तब तक भगवान् का मन्यु हम पर गिरना बन्द नहीं हो सकता। क्योंकि हमारा कोई भी पापाचरण भगवान् से छिपा नहीं रहता। वह हमारे सब प्रकार के द्रुग्ध अर्थात् हमारे द्वारा होने वाले धर्माचरण के द्रोहों को—अधर्माचरणों को—भली भांति जानते रहते हैं। किसी पापाचरी के मन में यह भूल नहीं रहनी चाहिये कि उसका कोई ऐसा भी पापाचरण हो सकता है जिसे राजा वरुण न जान पाते हों। नहीं, वह हमारे एक-एक पाप को देखते रहते हैं। इसीलिये मन्त्र में कहा है कि हे उग्र तुम हमारे सब प्रकार के द्रुग्धों को जानते हो।

मन्त्र के प्रथम चरण में उपासक ने कहा था कि हे महाराज, मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आपके आगे झुकता हूँ, आपकी भक्ति करता हूँ। परन्तु एक सच्चे उपासक को केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये कि वह स्वयं प्रभु का भक्त है—स्वयं अपना जीवन धार्मिक रखता है। उसे अपने चारों ओर के लोगों को भी प्रभु-भक्त, धार्मिक बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसी अभिप्राय से मन्त्र में कहा है कि "मैं सहस्रों औरों को भी प्रेरणा करता हूँ कि वे आपको नमस्कार करें, आपकी भक्ति करें।" इस प्रकार मन्त्र के इस वाक्य की यह स्पष्ट सूचना है कि वैदिक उपासक का जीवन

संसार से पृथक् होकर वन-पर्वत की किसी एकान्त गुफ़ा में बैठे रहने वले क्रियाहीन तापस का नहीं होना चाहिये। प्रत्युत उसका जीवन संसार में रह कर अपनी भक्ति और धार्मिक पवित्रता का सौरभ सहस्रों मनुष्यों तक पहुँचाने वाले क्रियाशील प्रचारक का होना चाहिये।

जो लोग इस प्रकार का ज्ञान और भक्तिमय पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं और दूसरों को भी ऐसा पवित्र जीवन व्यतीत करने में सहायता पहुँचाते हैं, उन्हें जहां आध्यात्मिक लाभ होते हैं वहां सांसारिक लाभ भी उन्हें अनेक प्राप्त होते हैं। इसे सूचित करने के लिये मन्त्र में कहा है कि "यह आपका उपासक सौ वर्ष तक जीता रह सके।" ऐसे उपासक की सौ वर्ष की लम्बी आयु होती है, ऐसी स्पष्ट सूचना इस वाक्य से निकलती है। फिर यह दीर्घ आयु की प्राप्ति अन्य सांसारिक लाभों का उपलक्षण मात्र है। दीर्घ आयु के सहायक दुग्ध-फल आदि पौष्टिक भोजन, स्वच्छ वस्त्र, स्वास्थ्यप्रद गृह आदि अनेक सांसारिक सुखों का ग्रहण भी इस दीर्घ आयु की प्राप्ति के वर्णन में समझनी चाहियें। इस प्रकार इस वर्णन से यह भी स्पष्ट सूचना मिलती है कि वैदिक भक्ति मार्ग में सांसारिक सुखों को सर्वथा त्याज्य नहीं समझा जाता है। उन्हें भी उपादेय बताया गया है। हां, इतनी बात अवश्य है कि ये सांसारिक सुख ब्रह्ममय पवित्र जीवन के सहकारी और उससे ही निकलने वाले होने चाहियें, उस जीवन के विरोधी नहीं होने चाहियें।

हे मेरे आत्मा ! तू अपना जीवन प्रभु-नमस्कार का, प्रभु के आगे झुकने का, प्रभु की भक्ति का, बना और अपने चारों ओर रहने वाले सहस्रों नर नारियों के जीवन को भी प्रभु-भक्ति की दीक्षा में दीक्षित कर। इस राह पर चलने से तुझ पर प्रभु की कृपा बरसेगी।

सत्यधर्मा राजा

यदुवक्थाऽनृतम्,
जिह्वया वृजिनं बहु।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो,
मुञ्चामि वरुणादहम् ॥३॥

अर्थ—हे मेरे आत्मा (यत्) जो, तूने (जिह्वया) अपनी जिह्वा से (अनृतं) असत्य (उवक्थ) बोला है, और जो तूने (बहु) बहुत सा (वृजिनं) पाप किया है [उसके कारण वरुण भगवान् तुझ पर क्रुद्ध हो जाते हैं] (अहं) मैं (सत्यधर्मणः) सत्य धर्म वाले (राज्ञः) सबके राजा (वरुणात्) वरुण भगवान् से (त्वा) तुझे (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं।

सबके राजा वरुण भगवान् सत्यधर्मा हैं। उन्हें सत्य से अगाध प्रेम है। वे स्वयं भी सत्य नियमों पर चलते हैं और सारे विश्व ब्रह्माण्ड को भी सत्य नियमों पर चलाते हैं। इस प्रकार सत्य नियमों पर चलने-चलाने के कारण सत्य का धारण करने

वाला होने से उन्हें सत्यधर्मा कहा जाता है। वे सत्य के प्रेमी सत्यधर्मा भगवान् हम मनुष्यों में भी, जो कि भगवान् के अमृत पुत्र हैं, सत्य के विरोधी जीवन को सहन नहीं कर सकते। हमारे जीवन के असत्य पर, झूठ पर, पाप पर, उन्हें भारी मन्यु आता है। यह असत्य चाहे भाषण का हो और चाहे कर्म का। यह पाप चाहे जिह्वा द्वारा मिथ्या बोल कर किया जाये और चाहे किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा मिथ्या कर्म द्वारा किया जाये वरुण भगवान् के मन्यु का, क्रोध का, विषय बनता है। और इसीलिये असत्यवारी और असत्यकारी पापी पर भगवान् का क्रोध गिरता है। उसके फलस्वरूप उस असत्यकर्मी को अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। जो वरुण भगवान् के मन्युजन्य दुःखों से बचना चाहें उन्हें असत्याचरण को, पाप को, त्याग कर पूर्णवर्णित वेद-विहित सत्य मार्ग पर चलना चाहिये और प्रभु की भक्ति करनी चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य निष्पाप हो जाता है और इस प्रकार वरुण के पाशों से, वरुण की पकड़ से छूट जाता है। जो व्यक्ति इस मन्त्र में वर्णित रीति से अपने आत्मा को सम्बोधन करता रहता है और सत्यधर्मा भगवान् की असत्य-द्वेषिता को स्मरण करके सदा अपने आपको सत्य के पवित्र मार्ग पर चलाता रहता है उसे कभी भी वरुण के पाश-बन्धन का भय नहीं रहता।

हे मेरे आत्मा! प्रभु सत्यधर्मा हैं। वे तेरे भीतर असत्य को सहन नहीं कर सकते। तेरे असत्य पर उन्हें मन्यु आ जाता

है। वे तुझे अपने पाशों में बांध लेते हैं। यदि तू उनकी पक
से बचना चाहता है तो अपने आपको तू भी सत्यधर्मा बना ले।

—०—

वैश्वानर समुद्र

मुञ्चामि त्वा वैश्वानराद्,
अर्णवान्महतस्परि।
सजातानुग्रेहा वद,
ब्रह्मचाप चिकीहि नः ॥४॥

अर्थ—(त्वा) तुझको हे मेरे आत्मा (वैश्वानरात्) स
लोगों के हितकारी (महतः) महान् (अर्णवात्) इस संसा
समुद्र से (परिमुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ (उग्र) हे उग्र शक्ति वाले
मेरे आत्मा (इह) इस संसार में (सजातान्) समान रूप से
उत्पन्न होने वाले (नः) हम मनुष्यों को (ब्रह्म) वेद का (आवद
उपदेश करते रहो (च) और (चिकीहि) हमें ज्ञानवान् बनाते
रहो, जिससे हम (अप) सब दोषों से अपगत अर्थात् दू
हो जायं।

यह संसार एक समुद्र है, और वैश्वानर समुद्र है—स
लोगों का हितकारी समुद्र है। यदि हम इसमें रहते हुए बुद्धिमत्ता
से जीवन व्यतीत करें तो यह हमारे लिये बड़ा हितकारी हो जाता
है। इसके द्वारा हमें अनेक प्रकार के सुख-मङ्गल प्राप्त होते हैं
यहां तक कि इसके पदार्थों का क्रमिक ज्ञान प्राप्त करते हुए ह

एक दिन पर-ब्रह्म का स्वरूप पहचानने में भी समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार बुद्धिमान् अभ्यासी के लिये यह जगत् सांसारिक सुखों का कारण तो बनता ही है साथ ही उसके लिये ब्रह्मज्ञान का सहायक होकर मोक्षानन्द की प्राप्ति का भी साधन बन जाता है। ऐसे बुद्धिमान् व्यक्ति इस संसार-समुद्र की विभिन्न विषय रूप लहरों पर आनन्द के साथ तैरते हुए बिना किसी भय के, बिना किसी आपद्-विपद्, के इसके परले किनारे जा लगते हैं—ब्रह्म-प्राप्ति रूप अपने ठिकाने पर जा पहुँचते हैं। परन्तु जो इसमें रहते हुए बुद्धि से काम नहीं लेते उनके लिये यह संसार-समुद्र बड़ा भयानक बन जाता है। सर्वत्र उनके लिये दुःख ही दुःख रहता है। वे सदा इसी में डूबते-उतराते रहते हैं। उन अज्ञानियों की इसमें ऐसी अवस्था होती है जैसी तैरना न जानने वाले अथवा भग्न-नौ यात्री की किसी समुद्र में पड़ जाने पर होती है। उन्हें अपने उद्धार का—कल्याण का—कोई मार्ग नहीं सूझता। जो पुरुष सूक्त के पूर्व मन्त्रों में वर्णित रीति से अपना जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें इस संसार-समुद्र में फंस जाने का कोई भय नहीं रहता। वे व्यक्ति तो सदा अपने आत्मा को उत्साह भरे शब्दों में सम्बोधन करते रहते हैं कि हे मेरे आत्मा मैं तुझे इस संसार-समुद्र से छुड़ा लूंगा—इसके भयों में नहीं पड़ने दूंगा। अज्ञानी और सत्याचारणी पर भगवान् का जो मन्यु गिरता है, जिसके कारण ही यह संसार-समुद्र भयजनक बन जाता है, भगवान् के उस मन्यु-पाश में मैं तुझे नहीं बंधने दूंगा। तू तो इस समुद्र की लहरों पर निरापद् होकर आनन्द से तैरता चला जा।

इस प्रकार के तत्त्वदर्शी व्यक्ति केवल अपना ही कल्याण करके संतुष्ट नहीं रहते। वे अपने आत्मा को सदा औरों का कल्याण करने के लिये भी प्रेरित करते रहते हैं। वे अपने आत्मा से कहते रहते हैं कि हे मेरे आत्मा जिस ब्रह्म अर्थात् वेद-ज्ञान के द्वारा और जिस ब्रह्म अर्थात् प्रभु-भक्ति के द्वारा तुमने अपना मंगल किया है उसका उपदेश तुम अपने से भिन्न औरों को भी करते रहो और इस प्रकार उन्हें भी ज्ञानी बनाते रहो जिससे उनके दुःख-दारिद्र्य के कारणभूत उनके सब दोष दूर हो जायें। मन्त्र में बोल रहा उपासक अपने से भिन्न व्यक्तियों के लिये "नः" अर्थात् "हम" इस सर्वनाम का प्रयोग कर रहा है। जिसका भाव यह है कि उपासक को अपने से भिन्न व्यक्तियों को पराया समझ कर उनके कल्याण में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। प्रत्युत उन्हें अपना समझ कर उनके मंगल के लिये भी भरपूर चेष्टा उसे करनी चाहिये।

यहां आत्माओं के लिये "सजात" शब्द का प्रयोग किया गया है। सजात का शब्दार्थ एक साथ उत्पन्न होने वाले होता है। यहां आत्माओं के अनादि जन्म के अभिप्राय से उन्हें सजात कहा है। सब आत्मा अनादि होने के कारण मानो अनादि जन्म के रूप में एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं। यह जन्म का वर्णन एक आलंकारिक वर्णनमात्र है। वेद में अन्यत्र आत्मा को "अज" अर्थात् कभी उत्पन्न न होने वाला कहा है। इसलिये इस सजात शब्द का भाव वही लेना चाहिये जो हमने लिया है। तभी वेद के दोनों प्रकार के वर्णनों की संगति लग सकेगी।

मन्त्र में अपने आत्मा के लिये "उग्र" ऐसा सम्बोधन किया गया है। उग्र का अर्थ होता है, प्रबल शक्ति वाला, जिससे पापी लोग भय खावें। आत्मा के इस विशेषण की यह ध्वनि है कि वैदिक उपासक को शारीरिक दृष्टि से भी प्रबल शक्ति वाला होना चाहिये। उसे वेद-पाठ और प्रभु-भक्ति में लग कर अपने शरीर की उपेक्षा करके उसे दुर्बल नहीं होने देना चाहिये। उसे मानसिक और आत्मिक के साथ-साथ शारीरिक उन्नति का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। उसकी सर्वतोमुखी उन्नति होनी चाहिये। उसकी उन्नति एकाङ्गी नहीं होनी चाहिये। सबल शरीर वाला व्यक्ति ही वेद प्रचार और प्रभु-भक्ति प्रचार का सर्वमंगलकारी वह कार्य कर सकता है जिसकी ओर मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उपासक का ध्यान खेंचा गया है।

जो पुरुष मन्त्र में वर्णित रीति से अपने आत्मा को सम्बोधन करके उसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सब दृष्टियों से सशक्त बनाते रहते हैं और अपने तथा समाज के कल्याण में सदा प्रयत्नशील रहते हैं वे इस संसार-समुद्र को हर्ष की लहरों में हंसने वाला आनन्द सागर बना कर सचमुच इसे "वैश्वानर"—सब मनुष्यों का हितकारी—कर जाते हैं।

हे मेरे आत्मा ! तू अपने आपको उग्र बना। अपने चारों ओर के सब नर-नारियों में वेद के ज्ञान का प्रवचन कर। इस प्रकार अपने और अपने साथियों को निर्मल और निष्पाप बना कर इस संसार-समुद्र को वैश्वानर—सब का हितकारी—बना डाल।

एकादश सूक्त

(अथर्व० ४ । १६)

बड़ा अधिष्ठाता

बृहन्नेषामधिष्ठाता,
अन्तिकादिव पश्यति ।
यस्तामन्यते चरन्
सर्वं देवा इदं विदुः ॥१॥

अर्थ—(एषां) इन लोगों का (अधिष्ठाता) वश में रखने वाला स्वामी (बृहन्) महान् है, वह (अन्तिकात्-इव) समीप खड़ा हुआ सा, प्रत्येक वस्तु को (पश्यति) देख रहा है (यः) जो प्राणी (तायन्) स्थिर खड़ा हुआ, तथा (चरन्) चलता-फिरता हुआ (मन्यते) सोचता विचारता है (इदं) इस (सर्वं) सब को (देवाः) दिव्य शक्तिशाली भगवान् (विदुः) जान लेते हैं ।

ये जितने लोक-लोकान्तर हैं भगवान् उन सब के अधिष्ठाता हैं। लोक शब्द पृथिवी, चन्द्र आदि जड़ पदार्थ तथा मनुष्यादि जीवित प्राणी, दोनों का ही वाचक है। मन्त्र का 'एषाम्' यह सर्वनाम पद इन दोनों प्रकार के ही लोकों को सूचित करता है। 'एषाम्' यह बहुवचनान्त पद है। इसकी ध्वनि यह है कि जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थ बहु संख्यक हैं—अनन्त हैं। भगवान् इन दोनों प्रकार के पदार्थों के अधिष्ठाता हैं। वे इन दोनों ही प्रकार के असंख्य पदार्थों को अपनी सर्वोपरि विद्यमान शक्ति के कारण वश में रखते हैं। वे इन सब के अधि अर्थात ऊपर स्थाता अर्थात् रहने वाले शासक होकर इन्हें अपने नियमों में चलाते हैं। कोई भी जड़ और चेतन पदार्थ इस अधिष्ठाता के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। यह अधिष्ठाता कोई छोटी-मोटी शक्ति वाला अधिष्ठाता नहीं है। यह बृहत् है, बहुत महान् है। इतना महान है कि सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने नियमों के शासन में रखता है।

जड़ पदार्थ तो इस अधिष्ठाता के बनाये नियमों को स्वभाव से ही नहीं तोड़ सकते। उनका स्वरूप, उनकी रचना ही ऐसी है कि जो नियम प्रभु ने उनके लिये निश्चित कर दिये उन पर वे प्रलयकाल तक चलते रहते हैं। परन्तु मनुष्य में स्वभाव से कर्म की स्वतन्त्रता है। वह जैसा भी चाहे अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है। प्रभु ने मनुष्य के लिये आचार के कुछ नियम बनाये हैं जिनका वेदशास्त्र में प्रतिपादन किया गया है। इन नियमों के पालन में मनुष्य को स्थिर रहने वाला सच्चा सुख प्राप्त

होता है। कई बार इन नियमों के पालन में क्षणिक दुःख भी हो जाता है। परन्तु यह क्षणिक दुःख असल में स्थायी सुख का कारण होता है। यदि हम इस क्षणिक दुःख को सह लें तो हमारा स्थिर, शाश्वत मंगल होगा। वास्तव में तो प्रभु के नियमों के पालन में हमें यह क्षणिक दुःख भी नहीं होता। यह क्षणिक दुःख भी इसलिये होता है कि हम किसी विशेष नियम का पालन करने से पहले पालन किये जाने वाले कई और नियमों का भंग कर चुके होते हैं। यदि हम बचपन से ही प्रभु के बनाये वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का पूर्णरीति से पालन करने के अभ्यासी हा जायें तो हमें कभी क्षणिक दुःख भी नहीं हो सकते। यह जो क्षणिक दुःख होते भी हैं वे स्थायी सुख की भूमिकामात्र होते हैं। परन्तु हम इस क्षणिक दुःख से घबराकर प्रभु के इन नियमों का पालन बन्द कर देते हैं—इनका भंग कर देते हैं। अज्ञान से हम समझ लेते हैं कि यह नियम-भंग हमें दुःख से बचा देगा। कई बार कई नियमों के भंग से क्षणिक सुख भी मिलता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु यह क्षणिक सुख वास्तव में स्थिर दुःख की भूमिका होता है। और जो क्षणिक सुख की प्रतीति भी होती है वह इसलिये होती है कि हम उससे पहले और नियमों का थोड़ा-बहुत पालन करके अपने को सुख का अधिकारी बना चुके होते हैं। इस प्रकार पूर्व नियमों के पालन से प्राप्त हो रहे सुख में वर्तमान कालिक नियम-भंग से प्राप्त होने वाला दुःख कुछ समय के लिये दब जाता है। परन्तु यह नियम-भंग यदि देर तक चलता रहे तो हमें इतना शक्तिहीन और इसी-

लिये दुःख का इतना अधिकारी बना देता है कि पूर्व के नियम-पालनों की कमाई भी कुछ समय के बाद जाती रहती है और हमारे लिये दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। यह जो हम क्षणिक दुःख से बचने और क्षणिक सुख प्राप्त करने के लिये इस महान् अधिष्ठाता के नियमों का भंग करते रहते हैं, इससे कोई यह न समझले कि उस अधिष्ठाता को हमारा यह नियम-भंग पता ही नहीं लगता। ऐसी बात नहीं है। वह अधि-ष्ठाता हमारे बहुत समीप है। वह हमारे आत्मा में भी अनु-प्रविष्ट है। इसलिये हमारे स्थूल नियम-भंग तो उससे छिपे रहते ही नहीं, हमारे मन के विचार तक भी उससे छिपे नहीं रहते। मनुष्य स्थिर खड़ा-खड़ा जो सोचता-विचारता है और चलता-फिरता हुआ भी जो सोचता विचारता है उस सबको दिव्य शक्ति वाले भगवान् जानते रहते हैं। हमारे मन और कर्म की कोई भी बात इस पैनी आंखों वाले अधिष्ठाता से छिपी नहीं रहती।

इसलिये हे प्राणी! यह जान कर कि उस अन्तर्यामी अधिष्ठाता से कुछ भी छिपा नहीं रहता, हमारे द्वारा होने वाला उसके नियमों का भंग उसे तत्काल पता लग जाता है, तू पाप-संकल्पों और पाप-कर्मों से हट जा। यदि तू उस सबके अधि-ष्ठाता, सबके स्वामी, प्रभु के नियमों के भंग रूप पाप-कर्मों से नहीं हटेगा तो तुझे दुःखसमुद्र में ही डूबते रहना पड़ेगा। प्रभु के नियम तोड़ कर कोई सुखी नहीं हो सकता।

मन्त्र में "देवाः" यह पद बहुवचनान्त है। प्रभु तो एक हैं। फिर भी उनके लिये जो यह पद बहुवचन में आया है उसे आदरार्थक समझना चाहिये। जिसका भाव यह है कि प्रभु में सबके आदर करने योग्य बड़-बड़े दिव्य गुण हैं।

हे मेरे आत्मा! सबके अधिष्ठाता उस प्रभु को समीप जान कर पाप से सदा दूर रहो।

दो जनों में तीसरा

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति,
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते,
राजा तद्वेद वरुण स्तृतीयः ॥२॥

अर्थ—(यः) जो (तिष्ठति) ठहरा हुआ है (यः) जो (चरति) चलता है (यः) जो (वञ्चति) धोखा देता है (यः) जो (निलायं) छिप कर (चरति) चलता है (यः) जो (प्रतङ्कं चरति) कष्ट देता है (द्वौ) दो जने (संनिषद्य) एकान्त में बैठ कर (यत्) जो (मन्त्रयेते) गुप्त विचार करते हैं (तत्) उसे (तृतीयः) तीसरा (राजा) राजा (वरुणः) वरुण (वेद) जानता है।

गत मन्त्र में बताया गया था कि सबके अधिष्ठाता वरुण भगवान् "अन्तिकादिव पश्यति"—हमारे समीप खड़े हुए से

हमारे आचरणों को देखते रहते हैं। वे अन्तर्यामी होने से हमारे इतने अधिक समीप हैं कि हमारे विचारों को भी जानते रहते हैं। गत मन्त्र के इस भाव को प्रस्तुत मन्त्र में और भी विस्तार और स्पष्टता के साथ वर्णन किया गया है। एक स्थान पर ठहरा हुआ कोई व्यक्ति जो कुछ सोचता-विचारता और करता है वरुण भगवान् से वह छिपा नहीं रहता। चलते फिरते हुए कोई व्यक्ति जो कुछ सोचता-विचारता और करता है वह भी वरुण भगवान् से अज्ञात नहीं रहता। जो व्यक्ति किसी को धोखा देता है उसके विचार और कर्म भी प्रभु से छिपे नहीं रहते। वह अपने जैसे अल्पज्ञ व्यक्तियों को धोखा देकर अपने मन में भले ही समझ बैठे कि उसकी बातों को कोई नहीं जान रहा, और, कोई मनुष्य उसकी बातों को भले ही जान भी न पाये, परन्तु वरुण भगवान् से तो उसकी कोई भी बात बिना जानी नहीं रह सकती। जो व्यक्ति औरों से छिप कर कुछ सोचता-विचारता और कार्य करता है उसकी भी सब बातों को वरुण भगवान् झट जान लेते हैं। वह अपने जैसे मनुष्यों से भले ही छिप जाये पर अन्तर्यामी वरुण से नहीं छिप सकता।

और जो व्यक्ति किसी को प्रतङ्क देता है, किसी के जीवन को कष्ट देकर दुःखी बना देता है, उसकी चेष्टा और विचारों को भी भगवान् जान लेते हैं। कोई किसी को कष्ट देने वाला यह समझे कि उसे कोई देख नहीं रहा तो वह भूल में है। और कोई उसेदेखे या न देखे। पर अन्तर्यामी वरुण की सब कुछ देखने वाली

आंखों से वह नहीं बच सकता। और इसीलिये समय आने पर औरों को दी गई पीड़ा का फल उसे भोगना पड़ेगा। कोई किसी को पीड़ा देकर यह न समझे कि किसी ने उसे देखा तो है ही नहीं इसलिये उसे भला इसका क्या फल मिल सकता है। अन्तर्यामी होकर देख रहे सबके अधिष्ठाता वरुण के दण्डविधान से वह नहीं बच सकेगा।

एक-एक व्यक्ति की बातों को जहां वरुण जानते रहते हैं वहां वे जब एक से अधिक व्यक्ति मिल कर कोई कार्य करते हैं तो उनके उस कार्य को भी जानते रहते हैं। इसीलिये कहा कि दो जने मिल कर एकान्त में जब कोई गुप्त विचार करते हैं तो तीसरे राजा वरुण उसे जान लेते हैं। कोई दो व्यक्ति संसार के अन्य व्यक्तियों से परे हट कर तो एकान्त में भले ही चले जायें पर ऐसा एकान्त उन्हें नहीं मिल सकता जहां वरुण भगवान् उन्हें न देख सकें। सर्वव्यापक प्रभुसे भला कौनसा स्थान एकान्त हो सकता है? इस लिये जब कोई दो व्यक्ति अपनी समझ में एकान्त में जाकर कोई गुप्त विचार करते हैं तो वहां कोई तीसरा मनुष्य भले ही उन्हें न देख रहा हो, परन्तु राजा वरुण एक ऐसे हैं जो तीसरे व्यक्ति के रूप में वहां भी उन्हें देख रहे होते हैं, उनकी सारी बातों को सुन और जान रहे होते हैं।

यहां वरुण भगवान् को 'राजा' कहा गया है। इसकी ध्वनि यह है कि जैसे राजनियमों के अनुसार चलने वाले व्यक्ति को राजा से कोई भय नहीं रहता प्रत्युत वह राजा का कृपापात्र रहता

है परन्तु जो व्यक्ति राजनियमों को भंग करता है वह राजा के दण्ड का पात्र बनता है, वैसे ही जो व्यक्ति वरुण भगवान् के बनाये प्राकृतिक तथा आचार-क्षेत्र के वैयक्तिक और समाजिक नियमों के अनुकूल चलता है उसे वरुण से कोई भय नहीं है, प्रत्युत वह उनका कृपा पात्र बना रहेगा। पर जो व्यक्ति उनके नियमों का भंग करेगा उसे उनके दण्ड का पात्र बनना पड़ेगा। राजा का दण्ड जैसे पापियों पर जागृत रहता है वैसे ही वरुण राजा का दण्ड भी पापियों पर जागृत रहता है। यहां वरुण शब्द के अर्थ की भी एक विशेषता देख लेनी चाहिये। वरण के दो अर्थ होते हैं। एक वरण करने योग्य और दूसरा निवारण करने वाला, बचाने वाला। यहां वरुण का दूसरा अर्थ अभिप्रेत है। वरुण भगवान् राजा होकर पापियों को दण्डित किस लिये करते हैं? इस लिये कि वे दण्डभय के कारण पाप से बचे रहें। इससे यह भी ध्वनित होता है कि वरुण भगवान् के दण्डविधान का उद्देश्य पाप से बचाना है अपराधी के प्रति प्रतिहिंसा की भावना नहीं है। भगवान् के दण्ड का भी वास्तविक प्रयोजन तो यह है कि पापी पाप से छुटकर पवित्र होकर भगवान् के दर्शन करके मोक्ष के ब्रह्मानन्द सुख का भागी बने।

हे मेरे आत्मा! इसलिये तू सर्वद्रष्टा राजा वरुण से डर कर सदा सद्विचारों को ही सोच और सदा सत्कर्मों को ही कर।

दोनों समुद्र उसकी कोख में हैं

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ,
उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी,
उतास्मिन्नल्प उदके निलीन ॥३।

अर्थ—(इयं) यह (भूमिः) भूमि (उत) भी (वरुणस्य वरुण (राज्ञः) राजा की है (दूरे अन्ता) दूर और समीप दिखाई देने वाला (असौ) वह (बृहती) बड़ा (द्यौः) द्युलोक (उत भी, वरुण राजा का है (उ) और (समुद्रौ) भूमि और अन्तरिक्ष के दोनों जल-समुद्र (उत) भी (वरुणस्य) वरुण की (कुक्षी) कोख में हैं (अस्मिन्) इस (अल्पे) अल्प (उदके जल में (उत) भी, वरुण (निलीनः) व्याप्त है।

पिछले दो मन्त्रों में वरुण की हम से समीपता पर बल दिया गया था। वे महाप्रभु हम सब के अति समीप हैं। यहां तक कि वे हमारे हृदयों में भी अन्तर्यामी हैं। इसलिये हमारा कोई विचार और कोई कर्म उनसे छिपा नहीं रहता। प्रस्तुत मन्त्र में यह बताया गया है कि वे व ण भगवान सारे विश्वब्रह्माण्ड में व्यापक हैं। हम से समीप से समीप की और दूर से दूर की वस्तु में भी उनकी सत्ता है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु में भी वे ओत-प्रोत हैं। इसी अभिप्राय से कहा कि यह भूमि भी राजा

वरुण की है और द्युलोक भी उसीका है। पृथिवी पर का समुद्र और अन्तरिक्षस्थ जलवाष्प और मेघमालारूप समुद्र उसकी कोख में हैं। हमारी आंखों के सामने पड़े हुए थोड़े से जल में भी वह व्याप्त है।

यह लम्बी-चौड़ी विशाल भूमि और इसके सब प्रदेश और सब पदार्थ राजा वरुण के हैं। धरती पर का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो वरुण का न हो और जिस में वरुण न रहते हों। धरती ही क्यों, देखो यह धरती से भी कहीं अधिक कल्पनातीत रूप में बृहत्, विशाल महान् द्युलोक भी, जिस में असंख्य सूर्य और उनके असंख्य ग्रहोपग्रह घूम रहे हैं, वरुण भगवान् का ही तो है। इस महा-विशाल द्युलोक में भ्रमण करने वाला कोई भी पिण्ड और इन पिण्डों का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो वरुण का न हो और जिस में वे भगवान् वरुण व्याप्त न हों। मन्त्र में द्युलोक का एक विशेषण 'दूरे अन्ता" दिया गया है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि दूर-दूर तक हैं अन्त अर्थात् सिरे जिस के। अर्थात् बहुत दूर तक फैला हुआ, बहुत भारी विस्तृत। सचमुच ही द्युलोक बड़ा विस्तृत है। बड़े से बड़े ज्योतिषी भी अपने बड़े से बड़े दूरवीक्षण यन्त्रों और प्रकाण्ड पाण्डित्य की सहायता से इस के विराट् विस्तार का अन्त नहीं पा सके हैं। इस शब्द का दूसरा अर्थ यह होता है कि जो दूर भी दिखाई दे और अन्त अर्थात् समीप भी दिखाई दे। द्युलोक क्षितिज में पृथिवी पर मिला हुआ दिखाई देता है और अतएव बड़ा समीप दिखाई देखता है। और इस द्युलोक को यदि हम सीधा अपने सिर के ऊपर देखें तो यह

बड़ी दूर दिखाई देता है। इस दिशा में हम इसे जितना ही अधिक ध्यान से देखें उतना ही अधिक इसकी दूरी हमें प्रतीत होती है।

मन्त्र में भूमि और द्युलोक के संबन्ध में इतना ही कहा है कि ये दोनों ही राजा वरुण के हैं। हमने इसका भावार्थ ऊपर यह दिखाया है कि वरुण भगवान् इन में व्यापक हैं। हमने यह आशय मन्त्र के इससे अगले ही वाक्य के आधार पर लिया है। इस अगले वाक्य में कहा है कि दोनों समुद्र वरुण की कुक्षि में हैं। कुक्षि में पड़ी हुई वस्तु कुक्षिमान् व्यक्ति की तुलना में बहुत अल्प होती है और कुक्षिमान् व्यक्ति उसे चारों ओर से घेरे रहा करता है। यदि हम एक लोटा जल पीकर अपनी कुक्षि में करलें तो हम स्पष्ट देखते हैं वह जल हमारी तुलनामें बड़ा ही थोड़ा होता है और हमारा शरीर उसे चारों ओर से घेरे रहता है। इसी प्रकार पृथिवी का समुद्र जो सारी धरती पर ही फैला हुआ है और अन्तरिक्ष का जलवाष्प रूप समुद्र जो सारे अन्तरिक्ष में फैला रहता है, ये दोनों ही समुद्र वरुण की कुक्षि में हैं। भगवान् इनको चारों ओर से घेर कर अपने में किये हुए हैं। जिस प्रकार जल समुद्र भगवान् की कुक्षि में होने के कारण भगवान् का है उसी प्रकार भगवान् की कुक्षि में रहने के कारण भूमि और द्युलोक भी भगवान् के हैं। क्योंकि धरती पर ही चारों ओर समुद्र है इसलिये उसके समुद्र के प्रभु की कुक्षि में आजाने से धरती तो यों भी उनकी कुक्षि में रहने वाली बन जाती है। भूलोक के साहचर्य से द्युलोक भी वरुण की कुक्षि में ठहरा हुआ समझा जा सकता है। यों भी द्युलोक में घूमने वाली भूमियों अर्थात् ग्रहोपग्रहों के जलसमुद्र

भगवान् की कुक्षि में रहेंगे और इसीलिये समूचा द्युलोक उनकी कुक्षि में रहने वाला बन जायेगा।

फिर किसी को यह भ्रान्ति न हो जाये कि प्रभु भूमि आदि को केवल चारों ओर से घेरे रहते हैं जैसा हमारा पेट पिये पानी को घेरे रहता है, उन भूमि आदि के अन्दर प्रभु व्याप्त नहीं है, इस लिये अगले ही वाक्य में पुनः कहा कि इस अल्प जल में भी वरुण व्यापक हैं। जब हमारे घरों के अल्प से जलों में भी प्रभु व्यापक हैं तो जलसमुद्र और उसके साहचर्य्य से भूमि और द्युलोक के पिण्डों जैसे विशाल पदार्थों में तो उन्हें व्यापक समझना चाहिये ही। "अल्प जल" का दृष्टांत केवल उपलक्षणमात्र है। अर्थात जल की भांति सभी पदार्थों में वरुण भगवान् व्याप्त हो रहे हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की प्रत्येक छोटी-बडी वस्तु को प्रभु चारों ओर से भी घेरे हुये हैं और उसके अन्दर भी व्यापक हैं। छोटे-बड़े और दूर-समीप के सभी पदार्थों में प्रभु ओत-प्रोत हैं।

भूमि और द्युलोक राजा वरुण के हैं मन्त्र के इस कथन की एक और भी ध्वनि है। जैसे किसी राजा के राज्य में सर्वत्र उसके नियम चलते हैं क्योंकि वह उस राजा का राज्य है, वैसे ही भूलोक और द्युलोक में समाये हुए समग्र ब्रह्माण्ड में वरुण राजा के नियम चलते हैं। क्योंकि यह ब्रह्माण्ड उनका है। इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी रहने वाला कोई व्यक्ति राजा वरुण के नियमों का भंग करके उसके फलोपभोग से बचा नहीं रह सकता।

हे मेरे आत्मा ! दोनों समुद्र जिसकी कोख में हैं, जो विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप रहा है, उस प्रभु को साक्षी जान कर कभी पाप में प्रवृत्त होने की चेष्टा न करना ।

हज़ार आंखों वाले गुप्तचर

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्ता-
न्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य,
सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥४॥

अर्थ—(यः) जो (द्यां) द्युलोक को (उत) भी (परस्तात्) परे (अतिसर्पात्) लांघ कर चला जाये (सः) वह (वरुणस्य) वरुण (राज्ञः) राजा से (न) नहीं (मुच्यातै) छुट सकेगा (अस्य) इस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर (दिवः) द्युलोक से (इदं) इस भूलोक तक (प्रचरन्ति) फिर रहे हैं (सहस्राक्षाः) सहस्रों नेत्रों वाले वे (भूमिं) भूमि को (अति पश्यन्ति) पार करके भी देख लेते हैं ।

गत मन्त्र में यह बताया गया था कि वरुण महाराज सारे विश्व में व्याप्त हैं और सारा विश्व उनकी कुक्षि में पड़ा है । क्योंकि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में और ब्रह्माण्ड से परे भी व्यापक हैं इसीलिये उनकी आंखों से कोई भी नहीं बच सकता । गत मन्त्र के ध्वनि से निकलने वाले इसी भाव को प्रस्तुत मन्त्र में सुस्पष्ट कर के बताया गया है ।

यदि कोई व्यक्ति उड़ कर द्युलोक से परे भी चला जाय तो वह भी राजा वरुण की पकड़ से छुट नहीं सकता। यदि वहां पर वरुण भगवान् की सत्ता न होती तो वह छुट भी जाता। पर प्रभु तो द्युलोक में भी हैं और द्युलोक से परे भी हैं। इसलिये वहां पहुँच कर भी उनकी पकड़ से कोई बच नहीं सकता। इसी भांति यदि कोई व्यक्ति भूमि के गर्भ में भी जा छिपे तो भी वह भगवान् की पकड़ से नहीं बच सकता। क्योंकि भगवान् भूमि के आवरण को पार करके भी देख लेते हैं। सर्वत्र व्यापक प्रभु की दृष्टि से भला कोई स्थान कैसे छिपा रह सकता है?

भगवान् द्वारा पकड़े जाने को एक आलंकारिक रूप में वर्णन करके कहा है कि द्युलोक से लेकर पृथिवी तक सर्वत्र भगवान् के गुप्तचर फिर रहे हैं। इन गुप्तचरों की सहस्रों आंखें हैं। इस लिये उनकी आंखों से कोई भी नहीं बच सकता। सर्वत्र फिर रहे, सहस्रों आंखों वाले, ये वरुण भगवान् के गुप्तचर भगवान् को सब बातों के समाचार दे देते हैं। कहीं पर भी कोई व्यक्ति क्यों न हो उसके सब विचारों और उसकी सारी चेष्टाओं को ये गुप्तचर भगवान् को निवेदन कर देते हैं।

ऊपर के ही मन्त्र में, तथा अन्यत्र भी अनेक मन्त्रों में, भगवान् को सर्वव्यापक कहा गया है। इसके साथ ही ऊपर प्रथम मन्त्र में, तथा अन्यत्र अनेक स्थलों में, प्रभु को सर्वद्रष्टा भी बताया गया है। इस लिये सर्वव्यापक और सर्वद्रष्टा प्रभु को किसी स्थान पर हो रही किसी बात को जानने के लिये किन्हीं गुप्तचरों की आवश्यकता नहीं हो सकती। इसलिये वरुण के गुप्तचरों का यह वर्णन स्पष्ट

ही आलंकारिक है। प्रभु ने विश्व-ब्रह्माण्ड में भांति-भांति के जो नियम बना रखे हैं वे ही उनके गुप्तचर हैं। जब कहीं पर स्थित कोई व्यक्ति प्रभु के किसी नियम का भंग करता है तो उस व्यक्ति का वह नियम-भंग प्रभु को झट पता चल जाता है। जैसे वह नियम हीं गुप्तचर बनकर भगवान् को अपने भंग की सूचना दे रहा हो। इस अलंकार का तात्पर्य इतना हो है कि पाठकों के मन पर यह बात अच्छी तरह अंकित हो जाये कि हमारा कोई भी पापाचरण, कोई भी नियम-भंग सर्वज्ञ प्रभु की आंखों से बच नहीं सकता। आध्यात्मिक अर्थ में तो वरुण के गुप्तचरों का यह वर्णन आलंकारिक ही होगा परन्तु वरुण के अधिराष्ट्र[1] अर्थ में यह वर्णन आलंकारिक न होकर बिल्कुल तात्त्विक होगा।

हे मेरे आत्मा! प्रभु के गुप्तचर सर्वत्र हैं। तू जो भी पाप करेगा उसे वे झट प्रभु को कह देंगे। तू कहीं चला जा वहीं वे तुझे देख लेंगे। इसलिये तू कभी पाप में प्रवृत्त न हो।

---

१. अधिराष्ट्र अर्थात् राजनीति-शास्त्र संबन्धी अर्थों में वरुण के क्या अर्थ होंगे इसके लिये लेखक का "वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

वह पलकों की झपक भी गिन लेता है

सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे,
यन्दतरा रोदसी यत् परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्,
अक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि ॥५॥

अर्थ— (यत्) जो (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक के (अन्तरा) बीच में है (यत्) और जो (परस्तात्) इनसे परे है (तत्) उस (सर्वं) सबको (राजा) राजा (वरुणः) वरुण (विचष्टे) अच्छी तरह देखता है (जनानाम्) मनुष्यों की (निमिषः) पलकों के झपकने भी (अस्य) इसके (संख्याता) गिने हुए हैं (इव) जैसे (श्वघ्नी) जुआ खेलने वाला (अक्षान्) पासों को (निमिनोति) वश में करके फेंकता है, वैसे ही यह राजा वरुण (तानि) पलकों के उन झपकनों को (निमिनोति) वश में करके फेंकता है अर्थात् झपकाता है।

पिछले मन्त्र में जो बात कही गई थी उसी को प्रस्तुत मन्त्र में फिर प्रकारान्तर से कहते हैं। द्युलोक और पृथ्वी लोक के बीच में जो कुछ है और इनसे परे भी जो कुछ है राजा वरुण उस सबको देखता है। द्युलोक के ही विस्तार का पहले तो कोई अन्त नहीं है। फिर जब यह कहा कि द्युलोक और पृथिवी लोक से परे भी जो कुछ है उसे भी वरुण जानता है तो इसकी यह ध्वनि है कि अनन्त आकाश में जो कुछ है उस सबको वह

जानता है। क्योंकि द्यु लोक और पृथिवी लोक से परे जो कुछ है वह तो अनन्त आकाश ही है। वहां भी जो कुछ है वह भी वरुण का ज्ञात है। क्योंकि वरुण भगवान् उस अनन्त आकाश में भी व्यापक हैं। भगवान् से जगत् की कोई भी जड़ और चेतन वस्तु छिपी नहीं है। और चेतन वस्तुओं का भी कोई विचार और कोई चेष्टा भगवान् से अज्ञात नहीं है। यहां तक कि हमारी पलकों के झपकने तक भी प्रभु के गिने हुए हैं। जैसे जुआ खेलने वाले के हाथ में पासे पूरी तरह वश में होते हैं, वह उन्हें अपनी मुट्ठी में से निकाल कर जब चाहे तब फैंक दे और जब न चाहे तब न फैंके, वैसे ही हमारी पलकों के झपकने भी प्रभु के वश में हैं। जब तक वह चाहते हैं तभी तक हमारी आंखें झपक सकती हैं, तभी तक हमारा जीवन रह सकता है। जब वे नहीं चाहेंगे तब हमारी आंखें नहीं झपक सकेंगी, हम निर्जीव होकर चेष्टाहीन हो जायेंगे। हमारे कर्मानुसार जब तक भगवान् आवश्यक समझते हैं तभी तक हमारा जीवन और उससे जन्य हमारी पलक मारना आदि नाना चेष्टायें स्थिर रहती हैं। हमारे कर्मानुसार जिस समय भगवान् हमारी इन चेष्टाओं को बन्द करना चाहते हैं उससे आधा क्षण भी अधिक समय तक इन चेष्टाओं को स्थिर रखने का सामर्थ्य हममें नहीं है। इन सबका संचालन वस्तुतः उस महाप्रभु के हाथ में है। पलकों का झपकना एक उपलक्षण मात्र है। यह पलकों का झपकना जड़ और चेतन की सारी चेष्टाओं को ही सूचित करता है। संसार के सब पदार्थों की जीवन-सत्ता और उनकी सब क्रियायें प्रभु के हाथ

में हैं। अपनी नियमव्यवस्था के अनुसार संसार के किसी पदार्थ को भगवान् जब तक रखना चाहते हैं तभी तक वह रहता है और तभी तक उसकी सब क्रियायें रहती हैं। जब भगवान् नहीं चाहते, भगवान् के नियमों में बंधा हुआ वह पदार्थ तभी अपनी सत्ता और अपनी क्रियाओं को खो बैठता है। भगवान् के नियमों से बाहर होकर एक पत्ता भी हिलने का सामर्थ्य नहीं रखता है।

यहां श्वघ्नी के दृष्टान्त का इतना ही तात्पर्य है कि जैसे पासे उसकी मुट्ठी में होते हैं, पूर्णतया उसके वश में होते हैं, वैसे ही संसार का प्रत्येक पदार्थ वरुण भगवान् की मुट्ठी में है, पूर्णतया उसके वश में है। इससे अधिक भाव यहां श्वघ्नी के दृष्टान्त का नहीं लिया जा सकता। जैसे श्वघ्नी बिना किसी नियम के पासों को जब चाहे तब फैंक देता है और जब न चाहे तब नहीं फैंकता है, पासों के फैंकने और न फैंकने में केवल श्वघ्नी की इच्छा मात्र कारण है, अपनी इच्छा से भिन्न और किसी नियम का ध्यान वह नहीं रखता है, वैसे ही भगवान् भी जब चाहें तब बिना किसी नियम के खाली अपनी इच्छामात्र से किसी पदार्थ या प्राणी के साथ जो चाहें व्यवहार करसकते हैं ऐसा नहीं समझा जा सकता। दृष्टान्त का सर्वांश में ग्रहण नहीं हुआ करता, वह तो केवल एक अंश को स्पष्टता से समझाने के लिये दिया जाया करता है। भगवान् श्वघ्नी की तरह मनमानी नहीं कर सकते। भगवान् की इच्छा पर नियमों का बन्धन है। यह और बात है कि ये नियम पदार्थों के स्वभाव को ध्यान में रख

कर स्वयं भगवान् ने ही बनाये हैं। भगवान् समय-समय पर किसी जड़ और चेतन पदार्थ से जो व्यवहार करते हैं वह अपने बनाये इन नियमों के अनुसार ही करते हैं। इन नियमों का उल्लङ्घन करके भगवान् मनमाना आचरण नहीं कर सकते। भगवान् को वेद में स्थान-स्थान पर ऋतम्भर, व्रतपा, व्रतपति, यम आदि नामों से कहा गया है। इन नामों का अर्थ यह है कि भगवान् विश्व में नियमों को बनाने वाले, उनके संचालक और रक्षक हैं। वेद में अन्यत्र वर्णित प्रभु के इस गुण के आधार पर हमें श्वघ्नी के दृष्टान्त का वही भाव समझना चाहिए जो अभी ऊपर दिखाया गया है।

मन्त्र में जुआ खेलने वाले को श्वघ्नी कहा गया है। यह शब्द जुए के खेल पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। श्वघ्नी का अर्थ होता है जो 'स्व' अर्थात अपने धन का, अपना तथा अपने सम्बन्धियों का नाश करे। जुआ खेलने वाला विना परिश्रम किये धन का स्वामी होना चाहता है। परन्तु धनी होने के स्थान में जुआरी प्रायः अपने पूर्व संचित धन को भी नष्ट कर बैठता है। और धन नष्ट हो जाने से उसका अपना और उसके सम्बन्धियों का भी नाश हो जाता है—उन्हें भांति-भांति के कष्ट झेलने पड़ते हैं। इसीलिये ऋग्वेद के द्यूतसूक्त में जुआ खेल कर धन कमाने के प्रकार की बड़ी निन्दा की गई है। उस सूक्त में जो बात विस्तार से कही गई है वही श्वघ्नी नाम में संक्षेप से बड़ी सुन्दरता से दिखा दी गई है।

हे मेरे आत्मा! जिस प्रभु ने हमारे पलकों के झपकने तक को जाना हुआ है भला तू पाप करके उस प्रभु से कहां बच सकेगा? तेरा कल्याण इसी में है कि तू पाप के मार्ग पर चलना ही बन्द कर दे।

—०—

वरुण के पाश

ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त,
त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्,
यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।६॥

अर्थ—(वरुण) हे वरुण (ये) जो (ते) तेरे (सप्त सप्त) पञ्चज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सात अथवा शरीर की सात धातुओं से सम्बन्ध रखने वाले (त्रेधा) उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन प्रकार के (रुशन्तः) दुष्टों की हिंसा करने वाले (विषिताः) अच्छी तरह से बांधे हुए (पाशाः) पाश (तिष्ठन्ति) पड़े हैं (सर्वे) वे सब (अनृतं) असत्य (वदन्तं) बोलने वाले को (सिनन्तु) बांध लें (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तं) उसे (अतिसृजन्तु) छोड़ देवें।

पिछले मन्त्रों में यह बताया गया था कि वरुण सर्वद्रष्टा हैं, वे सब स्थानों में रहने वाले सब व्यक्तियों के विचारों और आचरणों को भली-भांति जानते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में यह दिखाया

गया है कि वे भगवान् केवल द्रष्टा मात्र ही नहीं हैं। वे अधर्माचारी दुष्ट व्यक्ति को अपने पाशों में भी पकड़ लेते हैं। इनके सात प्रकार के पाश हैं। फिर इन सात के तीन तीन भेद और होकर ये इक्कीस पाश हो जाते हैं। ये पाश विषित हैं, इन्हें बहुत अच्छी तरह बांधा गया है, बहुत अच्छी तरह से बनाया गया है। अर्थात् इन्हें इस प्रकार का अच्छा बनाया गया है कि कोई भी अपराधी इन्हें तुड़ा कर इनके बन्धन से निकल नहीं सकता। फिर ये पाश इस प्रकार के हैं कि दुष्ट लोगों की इनसे खूब हिंसा होती है, उन्हें इनसे खूब अच्छी तरह दण्डित होना पड़ता है। फिर ये पाश इस प्रकार के हैं कि सत्यवादी को ये छोड़ देते हैं, उसे नहीं पकड़ते। इसीलिये सत्यवादी को इनसे डरने की आवश्यकता नहीं है। यहां सत्यवादी शब्द उपलक्षण होकर आया है। धर्म के सत्य आदि सभी अंगों का पालन करने वाले लोगों का यह शब्द सूचित करता है क्योंकि धर्म के सम्पूर्ण अंगों का आधार वस्तुतः सत्य ही है। परन्तु जो असत्यवादी हैं, जो धर्म के सत्य आदि अंगों का भङ्ग करने वाले अधर्माचारी पापी लोग हैं उन्हें वरुण के ये पाश पकड़ कर बांध लेते हैं। दुष्टों के लिये ये पाश भयावने हैं।

वरुण के अधिराष्ट्र अर्थ में उसके इन पाशों का अर्थ कुछ भी हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि इसके आध्यात्मिक अर्थ में वरुण के पाशों का यह वर्णन केवल आलंकारिक ही मानना पड़ेगा। क्योंकि वरुण अर्थात् सब के वरण करने योग्य और सब को पाप से बचाने वाले परमात्मा का कोई शरीर नहीं है, वे निराकार हैं।

इसलिये वे अपने हाथों में पाशों को पकड़ कर किसी अपराधी को बाँधते हैं ऐसी कल्पना तो की ही नहीं जा सकती। तब परमात्मा अर्थ में उनके इन पाशों का क्या अर्थ होगा और वे इन पाशों में अपराधी को किस प्रकार बांधते हैं? इस पाश-बन्धन का वस्तुतः जो अभिप्राय है वह इस प्रकार है। हमारे आत्मा को लोक और अपवर्ग का साधनभूत जो यह शरीर मिला है उसमें हमें पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि ये सात शक्तियें मिली हैं। फिर ये सातों शक्तियें उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन-तीन प्रकार की और हो जाती हैं। किसी को उत्तम प्रकार की ज्ञानेन्द्रियें, मन और बुद्धि मिली हैं। किसी को मध्यम प्रकार की मिली हैं और किसी को अधम प्रकार की ये ही सातों शक्तियें जो धर्माचारी के लिये मंगल का कारण बनती हैं, अधर्माचारी के लिये पाश बन जाती हैं। अधर्माचारी की इन शक्तियों को प्रभु उसके पापकर्मों के प्रतिफल के रूप में भांति-भांति से दूषित और क्लेशित कर देते हैं। और इस प्रकार ये शक्तियें उसके दुःख का कारण बन जाती हैं। जैसे कोई किसी को पाशों में—हथकड़ियों, बेड़ियों और जालों में बांध कर दुःखी कर दे वैसे ही भगवान् हमारी इन शक्तियों को क्लेशित और दूषित करके अधर्मियों को दुःखित कर देते हैं। इसलिये मानो ये एक प्रकार से वरुण के पाश हैं। अथवा हमारे शरीर में जो रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और वीर्य नामक सात धातुयें हैं उन्हीं का ग्रहण मन्त्र के सात शब्द से कर लेना चाहिये। फिर वात, पित्त और कफ अथवा सत्त्व, रज और तम की प्रधानता से इन सात धातुओं के तीन-तीन

भेद और हो जाते हैं। इन सात धातुओं के कारण ही हमा
शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग, इन्द्रियें तथा मस्तक बनते हैं। भगवा
अधर्माचारी की इन धातुओं में विकृति पैदा करके उसके विभि
अङ्गों को क्लेशित करके उसे दुःखी कर देते हैं। विकृति
अवस्था में अधर्माचारी के दुःख का साधन होने के कारण
सात धातुओं को वरुण का पाश कह दिया गया है। भगवान् ज
किसी आत्मा को दुःख देते हैं तो इन्हीं सात को साधन ब
कर देते हैं।

मन्त्र के "सप्तसप्त" इस शब्द को प्रायः एक पद माना जा
है। इसे एक पद मान कर भी इसका अर्थ इस प्रकार किया जा
है जैसे "सप्त" "सप्त" ये दो पृथक् पद हों। और इस प्रकार त्रे
पद को इसके साथ मिला कर यह अर्थ कर दिया जाता है
तीन प्रकार से सात सात अर्थात् इक्कीस। सायणादि ने ऐसा
अर्थ किया है। यदि "सप्त" "सप्त" ये पृथक् पद होते तब
ऐसा अर्थ करना ठीक होता। पर "सप्तसप्त" यह एक पद मान
ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता। "सप्तसप्त" इसे एक पद मा
कर तो इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं। एक तो सात औ
सात अर्थात् चौदह। और दूसरा सात गुणा सात अर्थ
उनञ्चास। "त्रेधा" पद को इसके साथ जोड़ने पर इस
दो ही अर्थ हो सकेंगे। एक तीन गुणा चौदह अर्थात् बयालीस
और दूसरा तीन गुणा उनञ्चास अर्थात् एक-सौ-सैंतालीस। "स
सप्त" को एक पद मान कर इसका तिगुना इक्कीस ऐसा अर्थ न
हो सकता। इसलिये इक्कीस अर्थ करने के लिये या तो "स

"सप्त" इस प्रकार दो पद मानने चाहियें। और इस प्रकार प्रचलित पदपाठ को छोड़ देना चाहिये। अथवा "सप्तसप्त" इस एक पद का अर्थ हमारी रीत से करना चाहिये। इसमें पहले सप्त को तो सात अर्थ में संख्या वाची मानना चाहिये और दूसरे सप्त को संख्यावाची न मान कर सम्बद्ध अर्थ का वाचक मानना चाहिये। सम्बद्ध अर्थ में यह सप्त शब्द "षप समवाये" धातु से "क्त" प्रत्यय होकर बनेगा। जो सातों से समवेत हो, सम्बद्ध हो, उसे "सप्तसप्त" कहेंगे। यह शब्द बहुवचनान्त है, विभक्ति का लुक् हो जाने से वह प्रतीत नहीं हो रही। यह "सप्तसप्त" पद पाश का विशेषण है। अर्थात वरुण के पाशों का सात धातु आदि के साथ सम्बन्ध है। फिर ये सात धातुओं आदि सम्बन्धी वरुण के पाश त्रेधा अर्थात् तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार इक्कीस संख्या की प्राप्ति भी हो गई, और यह सूचना भी मिल गई कि वरुण पापियों को दण्डित करने के लिये अपने पाश किसे बनाते हैं। इन पाशों का शरीर की धातुओं से सम्बन्ध है। अर्थात् वरुण भगवान् शरीर की धातुओं आदि को ही साधन बना कर दुष्टों को दण्डित करते हैं। ये ही उनके पाश हैं।

हे मेरे आत्मा! तुम प्रभु को सर्वत्र विद्यमान जान कर पाप से परे रहो। नहीं तो वह तुम्हें भी पाशों में बांध लेगा।

—:o:—

पाप का झण्डा गिरा दो

शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनम्,
मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा,
कोश इवाबन्धः परिकृत्यमान ॥७॥

अर्थ—(वरुण) हे वरुण (एनं) इस असत्यवादी को (शतेन) सैकड़ों (पाशैः) पाशों से (अभिधेहि) बांध ले (नृचक्षः) हे मनुष्यों को पहचानने वाले (अनृतवाक्) असत्यभाषी (ते) तुझ से (मा) मत (मोचि) छुट जाये (जाल्मः) दुष्टव्यवहारी पुरुष (उदरं) अपने ऊँचे पाप के झण्डे को (श्रंशयित्वा) गिरा कर (परिकृत्यमानः) कटे हुए (अबन्धः) आश्रयहीन (कोशः) फूल के डोडे की (इव) तरह (आस्ताम्) पड़ा रहे।

पूर्व मन्त्रों में वरुण भगवान् के सम्बन्ध में यह जो वर्णन किया गया था कि वह सर्वद्रष्टा है और अधर्माचारी को अपने पाशों से बांध कर दण्डित करता है, उस पर वेद का स्वाध्यायी उपासक गम्भीरता से विचार करता है। और इस गम्भीर विचार के परिणाम स्वरूप इस परिणाम पर पहुंचता है कि हमारे कर्मानुसार भांति-भांति के दुःख भोग रूप जो पाश वरुण भगवान् द्वारा हम पर बांधे जाते हैं, वे वस्तुतः हमारे मंगल के लिये हैं। यदि भगवान् हमें इस प्रकार हमारे पा

कर्मों को प्रतिफल के रूप में दण्डित न करते तो संसार में आचार के क्षेत्र में बड़ी घोर अव्यवस्था छा जाती। सामान्य मनुष्यों को धर्म के, कर्तव्य के, सही मार्ग पर चलाने वाले भय और प्रलोभन ये ही दो कारण हैं। यदि हमें धर्म के, कर्तव्य के, सही मार्ग पर चलने से कुछ भी मिलने की आशा न हो अथवा कर्तव्य से गिर जाने पर किसी प्रकार का भी दण्ड मिलने का भय न हो तो हममें से अधिकांश मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन कभी नहीं करेंगे। यदि भगवान् हमारे अनाचरणों का प्रतिफल दुःख देकर हमें दण्डित करने वाले न होते तो हमें सही मार्ग पर चलाने वाला एक बड़ा भारी कारण अर्थात् भय बिलकुल न रह जाता। और इस भयहीन अवस्था में अधिकांश व्यक्ति सत्य, न्याय, दया आदि सद्गुणों का कभी भी पालन न करते और इस प्रकार कर्तव्य के क्षेत्र में बड़ी अव्यवस्था मच जाती। भगवान् पापियों को अपने पाशों में बांध करके जहां कर्तव्य-क्षेत्र की इस अव्यवस्था को रोकते हैं वहां वे इस बन्धन द्वारा पापी के आत्मा को निर्मल, निष्पाप, बना कर उसे मोक्ष-सुख का अधिकारी बना देते हैं और इस प्रकार अपराधी को दण्डित करते हुए भी वे उस पर मंगल की वर्षा कर रहे होते हैं। क्योंकि भगवान् की इच्छा है कि संसार का प्रत्येक प्राणी मोक्ष-सुख का पान करे। पर मोक्ष-सुख का पान तो निष्पाप आत्मा ही कर सकता है। पापी को दण्ड देकर प्रभु उसे निष्पाप बनाते हैं। अपने को दुःख मिलने पर अथवा दूसरे किसी को दुःख मिलता देख कर हमारे मन में विचार उठता है कि न्यायकारी

प्रभु बिना किसी दुष्ट कर्म के यह दुःख नहीं दे सकते थे। इसलिये मिल रहा यह दुःख सूचित करता है कि हमने इस जन्म में या पूर्व जन्म में कोई अधर्म कार्य अवश्य किया है। न जाने किस पाप कर्म का यह फल है। इसलिये दुःखों से बचने के लिये आवश्यक है कि हम सभी प्रकार के पाप कर्मों को छोड़ दें। यह विचार मन में उत्पन्न होकर हमारे पाप छुड़ा देता है। पाप छूट जाने से हमारा आत्मा निर्मल हो जाता है। आत्मा के निर्मल होने का फल मोक्ष-सुख की प्राप्ति होता है। और हमें यह परम सुख प्राप्त कराना ही भगवान् का अभीष्ट था। इस प्रकार भगवान् के दण्ड में भी हमारा मंगल छिपा है। जब उपासक विचार द्वारा इस निश्चय पर पहुंचता है तो उसके मन में जो उद्गार उठते हैं उन्हीं को प्रस्तुत मन्त्र में प्रकट किया गया है।

वह मन्त्र के शब्दों में भगवान् को सम्बोधन कर के सहसा चिल्ला उठता है कि हे वरुण, मेरा या अन्य किसी का जो कोई भी आत्मा असत्यवादी है अर्थात् अधर्माचारी है आप उसे झट अपने पाशों में बांध लीजिये। कोई भी पापाचारी आपके इस पाश-बन्धन से बचकर निकलने न पावे। हे वरुण आप नृचक्षाः हैं—मनुष्यों को पहिचानने वाले हैं। इस लिये हमें पूर्ण विश्वास है कि आप पहिचान कर पापी को ही दण्डित करेंगे। पुण्यात्मा को आपके पाशबन्धन का कोई भय नहीं है। पर पापी को हे वरुण आप बिल्कुल मत छोड़िये। जैसे शाखा से तोड़ा हुआ फूल का डोडा आश्रयहीन होकर गिर पड़ता है वैसे ही दुष्टव्यवहारी

पापी लोग भी आपके पाशों में बन्धने के कारण अपने पाप कर्म के ऊंचे किये हुए झण्डे को गिरा कर पड़े रहें। आप से दण्डित होने के कारण वे पापी आत्मा पाप का झण्डा ऊंचा न कर सकें। प्रभो! हम पापी आत्माओं को आप अपने पाशबन्धन में अवश्य बांधिये। क्योंकि आपका यह बन्धन देखने में दुःखदायी लगने पर भी असल में व्यक्ति और समाज के लिये बड़ा मंगलकारी है। आप दण्ड नहीं देंगे तो पाप-कर्मों में रत हमारे आत्मा की दुष्ट प्रवृत्ति कभी नहीं छूट सकेगी और इस प्रकार हम असली मंगल से सदा ही वंचित रहेंगे। इसलिये हे पाशधारी वरुण, कम से कम मैं तो आपके बन्धनों से बचना नहीं चाहता। प्रत्युत मैं तो उनका स्वागत करता हूं। हे प्रभो! मुझे शीघ्र से शीघ्र अपने पाशों में बांध कर निष्पाप और निर्मलकीजिये।

गत मन्त्र में वरुण के इक्कीस पाशों का वर्णन हुआ था। कोई यह न समझले कि वरुण के पास इतने ही पाश हैं, उसके पास पापी को दुःख देने के इतने ही साधन हैं। इस लिये प्रस्तुत मन्त्र में कहा कि हे वरुण! अपने सैंकड़ों पाशों से पापी को बांधिये। भगवान् के पास पापी को दण्डित करने के साधन थोड़े नहीं हैं जिन्हें बीस-इक्कीस की संख्या में गिनाया जा सके। यह संख्यायें तो कहने का एक प्रकार मात्र हैं। वस्तुतः तो भगवान् के पापी को दण्ड देने के साधन सैंकड़ों हैं—उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है। जहां वे हमारे शरीर के अङ्गों को क्लेशित करके हमें दुःखी कर सकते हैं वहां वे और भी अनेक प्रकार से हमें दण्डित कर सकते हैं। उस पाशी के पाश असंख्य हैं।

हे मेरे आत्मा ! उस पाशी भगवान् के पास अनगिनत पाश हैं। तू पाप करके उनके बन्धन से बच नहीं सकता। तू प्रभु के आश्रय में जाकर पाप की प्रवृत्ति को ही छोड़ दे। इसी में तेरा कल्याण है।

उसके पापका फल देने के प्रकार

यः समाम्यो वरुणो यो व्याम्यो,
यः संदेश्यो वरुणो यो विदेश्यः।
यो वै दैवो वरुणो यो मानुषः ॥८॥

अर्थ—(यः) जो (वरुणः) वरुण (सम्-आम्यः) समुदाय भर में फैल जाने वाले संक्रामक रोगों वाला है (यः) जो (व्याम्यः) वैयक्तिक रोगों वाला है (यः) जो (सदेश्यः) समूह भर में आपत्तियें लाने वाला है (यः) जो (वि-देश्यः) विशेष-विशेष व्यक्तियों पर आपत्तियें लाने वाला है (यः) जो (दैवः) दैवी आपत्तियें लाने वाला है (यः) जो (मानुषः) मानुषी आपत्तियें लामे वाला है।

पिछले मन्त्र में वरुण के सैंकड़ों पाशों की ओर, उसके दण्ड देने के साधनों की ओर, निर्देश किया गया था। प्रस्तुत मन्त्र में उन साधनों में से कुछ का स्पष्टीकरण किया गता है। भगवान् समाम्य हैं। आम शब्द रोग का वाचक है। यह शब्द "अम रोगे" धातु से बनता है। आम के साथ सम् उपसर्ग लगने से समाम शब्द बनता है। यहां सम् उपसर्ग संग्रह का, सम्पूर्ण का, द्योतक

है। जो रोग समूह को लग जाने वाले हों उन्हें समाम कहेंगे। वरुण समूह के रोग भेजने में चतुर हैं इस लिये वे समाम्य हैं। इसी प्रकार वरुण व्याम्य भी हैं। वे क्योंकि व्याम अर्थात् वैयक्तिक रोगों के भेजने में चतुर हैं। भगवान् के इन विशेषणों का भाव यह है कि मनुष्यों के अधर्माचरणों का फल देने के लिये वे कभी तो उनमें वैयक्तिक रोग भेज देते हैं और कभी सामूहिक रोग। जो इस प्रकार के रोग हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे में नहीं जाते वे व्याम हैं, वैयक्तिक रोग हैं। ऐसे रोग जिस व्यक्ति को लगते हैं उसी तक रहते हैं। परन्तु जो रोग ऐसे हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्तियों में भी चले जाते हैं, और इस प्रकार समूह भर में फैल जाते हैं, उन संक्रामक रोगों को समाम या सामूहिक रोग कहा जाता है। भगवान् इन दोनों ही प्रकार के रोगों द्वारा पापाचारियों को दण्डित करते हैं। उनके दण्ड का साधन होने से ये रोग एक प्रकार से वरुण भगवान् के पाश हैं। भगवान् के ये पाश केवल रोगों तक ही सीमित नहीं हैं। रोगों के अतिरिक्त उनके पास और भी अनेक प्रकार के पाश हैं। इसलिये कहा कि वरुण संदेश्य और विदेश्य हैं। जो कष्ट और विपत्तियें समूह के पास भेजी जायें उन्हें संदेश कहेंगे और जो व्यक्तियों के पास भेजी जायें उन्हें विदेश कहेंगे। सदेश और विदेश का यहां शब्दार्थ तो केवल इतना है कि जो क्रमशः समूह और व्यक्ति के पास भेजा जाये। परन्तु क्योंकि यहां वरुण के पाशों का, अपराधी को दण्ड देने का, वर्णन चल रहा है और समाम्य और व्याम्य शब्दों द्वारा रोग का स्पष्ट

वर्णन भी किया गया है इसलिये साहचर्य के बल पर हमने सदेश और विदेश के अर्थ में कष्ट और विपत्ति का अध्याहार कर लिया है। भगवान् वरुण सामूहिक विपत्तियें और वैयक्तिक विपत्तियें भेजने में चतुर हैं इसलिये वे संदेश्य और बिदेश्य हैं। ये सामूहिक और वैयक्तिक विपत्तियें अनेक प्रकार की हो सकती हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये मन्त्र में आगे कहा है कि वरुण भगवान् दैव हैं और मानुष हैं। जो देवों से सम्बन्ध रखे वह दैव कहलाता है और जो मनुष्यों से सम्बन्ध रखे वह मानुष कहलाता है। भगवान् का जल, अग्नि, भूमि, वायु, सूर्य, विद्युत आदि देवों से सम्बन्ध है इसलिये वे दैव हैं। और उनका मनुष्यों से भी सम्बन्ध है इसलिये वे मानुष भी हैं। वरुण का इन देवों और मनुष्यों दोनों से सम्बन्ध होने के कारण वे इन के द्वारा ऊपर वर्णित सामूहिक और वैयक्तिक विपत्तियें भेज देते हैं। भाव यह है कि कभी तो व्यक्तियों और समूहों पर वे दैवी विपत्तियें भेज देते हैं। प्रदेशों के प्रदेशों में जल विप्लव आगया, भयङ्कर आंधी के द्वारा उन्हें भारी हानि हो गई, आग लग जाने से उन्हें संकट सहने पड़े, असह्य गरमी पड़ने और वर्षा न होने से उनकी खेतियें सूख गईं, भूकम्प आजाने से उन्हें घोर विपत्ति सहनी पड़ी, विद्युत्पात से उनकी भयङ्कर क्षति हो गई—इस प्रकार की समूह भर को सताने वाली विपत्तियें सामूहिक दैवी विपत्तियें हैं। और इन्हीं जल आदि के द्वारा पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले कष्ट वैयक्तिक दैवी विपत्तियें हैं। कहीं भयङ्कर युद्ध छिड़ गये, कहीं एक या अधिक डाकुओं ने मिल कर नगरों को लूटना

आरम्भ कर दिया, इस प्रकार की मनुष्यों द्वारा समूहों को प्राप्त होने वाली विपत्तियें सामूहिक मानुषी विपत्तियें हैं। और एक या अधिक मनुष्यों द्वारा पृथक् पृथक् व्यक्तिय को जो कष्ट आते रहते हैं वे वैयक्तिक मानुषी विपत्तियें हैं। इस प्रकार भगवान् के पाशों का, उनके दण्ड देने के साधनों का, कोई अन्त नहीं है। वे पापी को भांति-भांति से दण्डित कर सकते हैं। यदि हम किसी तरह उपाय करके उनके किसी एक साधन से प्राप्त होने वाले दुःख से बच भी गये तो वे अपने असंख्य साधनों में से किसी अन्य साधन द्वारा हमें उतना ही दुःख दे देंगे। अपने दुष्ट कर्मों का फल दुःख भोग किये बिना कोई व्यक्ति वरुण के सर्वग्राही पाशों से बच नहीं सकता।

हे मेरे आत्मा! प्रभु पापी को अनेक प्रकार से उस के पाप-कर्मों का फल दे डालते हैं। पाप-फल भोग से कोई बच नहीं सकता। यदि तू कष्ट से बचना चाहता है तो पापाचरण को त्याग दे। तभी तुझे मंगल मिलेगा।

माता-पिता तुझे न बचा सकेंगे

तैस्त्वा सर्वैरभिष्यामि पाशै-

रसावामुष्यायणामुष्याःपुत्र ।

तानु ते सर्वाननुसंदिशामि ॥ ६ ॥

अर्थ—(आमुष्यायण) हे अमुक पुरुष के पुत्र, और (अमुष्याः) अमुक स्त्री के (पुत्र) पुत्र [अपराधी पुरुष] (त्वा) तुझे (सर्वैः) सब (पाशैः) पाशों से (अभिष्यामि) बांधता हूँ (तान्) उन (सर्वान्) सबको (उ) निश्चय से (ते) तेरे लिये (अनुसंदिशामि) भेजता हूं ।

ऊपर के मन्त्र में वरुण को समाम्य आदि विशेषणों से कहा गया था । और इस से भी ऊपर के मन्त्रों में वरुण की अन्य कई प्रकार से महिमा कही गई थी । प्रस्तुत मन्त्र में वरुण भगवान् स्वयं बोलते हैं और कहते हैं कि हे पापाचारी व्यक्ति उपर्युक्त गुणों वाला मैं वरुण तुझे अपने पाशों से बांधता हूँ । किसी को वरुण-कृत पाश-बन्धन में सन्देह न हो जाये इसलिये प्रस्तुत मन्त्र में वे उत्तम पुरुष में स्वयं बोल रहे हैं । जिसका भाव यह है कि भगवान् स्वयं अपने मुख से कह रहे हैं कि पापी को उन के पाशों में अवश्य बन्धना पड़ता है इस लिये इस में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिये । मन्त्र में भगवान् अपराधी को अमुक पुरुष और अमुक स्त्री के पुत्र इस प्रकार के शब्दों में सम्बोधन कर रहे

हैं। जिसका भाव यह है कि पापाचारी व्यक्ति अपने अपने पिता[१] और माता को समझ लें। पुनः यहां पर पापाचारी के माता पिता की ओर निर्देश करने का भाव यह है कि कोई चाहे किसी छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पिता का पुत्र हो और चाहे किसी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी माता की सन्तान हो, यदि वह पापाचारी है तो उसे वरुण के पाशों में बंधना ही पड़ेगा। किसी का ऊंचा या नीचा जन्म वरुण द्वारा मिलने वाले उसके पाप कर्म के फल कष्ट-भोग से उसे बचा नहीं सकता। वरुण की दृष्टि में जन्म और जाति का पक्षपात नहीं है। वरुण के पाशों से बचने का एक ही उपाय है। और वह यह कि हम अपने आप को सर्वथा निष्पाप और निष्कलङ्क बनालें।

हे मेरे आत्मा ! तू भी अपने पाप-कर्मों को त्याग दे। नहीं तो तुझे भी उनके फल भोगने के लिये कष्ट के बंधन में बंधना पड़ेगा। कोई संबन्धी तेरी रक्षा न कर सकेगा।

---

१. अधिराष्ट्र अर्थ में इस मन्त्र का जो भाव होगा वह लेखक के "वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ में पढ़िये।

द्वादश सूक्त

(अथर्व० ५।१)

तीनों को धारण करने वाला त्रित

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आ बभूव-
अमृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा ।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव
त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि ॥१॥

अर्थ—(यः) जो वरुण भगवान् (ऋधक् मन्त्रः) सत्य मन्त्र वाला है (योनिं) प्रत्येक कारण में (आ बभूव) वर्तमान रहता है (अमृतासुः) अमर ज्ञान और प्राणशक्ति वाला है अथवा अमर ज्ञान और प्राणशक्ति देने वाला है (वर्धमानः) वृद्धि करने वाला है (सुजन्मा) जन्म को उत्तम बनाने वाला है (अदब्धासुः) न दबने वाले ज्ञान और प्राणशक्ति से युक्त है (अहा) दिनों के (इव) समान (भ्राजमानः) प्रकाशमान् है (त्रितः) ज्ञान में सब से बढ़ा हुआ है, तराने वाला है, पालना करने वाला है, तीनों में व्यापक है, तीनों का विस्तार करने वाला है (धर्ता) धारण

करने वाला है, उसने (त्रीणि) तीनों को (दाधार) धारण किया हुआ है।

सब के वरणीय वे प्रभु ऋधङ्मन्त्र हैं। ऋधक् का अर्थ होता है सत्य। मन्त्र का अर्थ होता है मनन, विचार। जिसका मन्त्र सत्य हो उसे ऋधङ्मन्त्र कहेंगे। भगवान् का प्रत्येक मनन, उनका प्रत्येक विचार, सत्य है। उनके मन में कभी कोई असत्य विचार नहीं उठता। और जो विचार उनके मन में उठते हैं उनके अनुसार जगत् में कार्य होकर रहते हैं। जो कुछ भगवान् करना चाहेंगे वह टल नहीं सकता। उनका सोचा हुआ अन्यथा नहीं हो सकता। उनके संकल्प में कोई शक्ति रुकावट नहीं डाल सकती। क्योंकि वे ऋधङ्मन्त्र हैं—सत्यमन्त्र हैं। इस पद का एक और अर्थ हो सकता है। उस अर्थ में ऋधङ्मन्त्र का अर्थ होगा—जिससे सत्यमन्त्र की प्राप्ति होती है। भगवान् की संगति में जाने से, भगवान् की शरण में पहुँचने से, उपासक को सत्यमन्त्र की—सत्य मनन और विचार की—प्राप्ति होती है। भगवान् का पल्ला पकड़ने वाले व्यक्ति के मन में से सब प्रकार के असत्य विचार नष्ट हो जाते हैं। उसके मन में सत्यमय विचारों की उत्पत्ति और निवास होने लगते हैं। ऋधङ्मन्त्र शब्द का एक और भी अर्थ हो सकता है। मन्त्र का अर्थ वेद की ऋचायें भी होता है। क्योंकि उनमें श्रेष्ठ विचार निहित रहते हैं। इसलिये ऋधङ्मन्त्र का, जिससे सत्य ज्ञानयुक्त वेद-मन्त्रों की उत्पत्ति होती है, ऐसा अर्थ भी हो सकता है। ऋधक् शब्द एक अव्यय पद है जिसका प्रसिद्ध अर्थ सत्य, सच्चा, सच ऐसा होता है। इसके और भी कई अर्थ

होते हैं। इसका अर्थ समीपता भी होता है। इस अर्थ में ऋधङ् मन्त्र का अर्थ होगा जिसका मन्त्र सदा हमारे समीप रहता है। भगवान् का मन्त्र, उनका विचार, उनका उपदेश और सलाह सदा हमारे समीप रहते हैं। हम जिस क्षण चाहें उसी क्षण भगवान् की शरण में जाकर उनसे मन्त्र प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् हम सब के घट-घट में व्यापक हैं। अपने अन्तर्यामी उस भगवान् से हम जब चाहें तभी हमें सत्परामर्श, सद्विचार, सदुपदेश और भली सलाह प्राप्त हो सकती है। भगवान् पर अपने आपको अर्पण कर देने वाले पवित्र हृदयों में भगवान् की ओर से सदा प्रकाश मिलता रहता है। ऋधक् शब्द ऋधु धातु से औणादिक "अजि" प्रत्यय करने से बनता है। ऋधु धातु का अर्थ होता है "वृद्धि"। ऋधक् का इस प्रकार यौगिक अर्थ लेने पर ऋधङ्मन्त्र का एक और भी भाव हो सकता है। इस अर्थ में ऋधक् का अर्थ होगा बढ़ाने वाला। और ऋधङ्मन्त्र का, बढ़ाने वाला है मन्त्र जिसका ऐसा अर्थ होगा। भगवान् ऋधङ्मन्त्र हैं। उनकी संगति में जाने से जो सद्विचार प्राप्त होते हैं वे उपासक की वृद्धि करते हैं। उनसे उपासक की सदा उन्नति होती है। भगवान् की संगति से प्राप्त होने वाले विचारों पर चलने वाला व्यक्ति कभी गिरावट में नहीं जा सकता। चाहे भगवान् की उपासना में बैठ कर उनके स्वरूप का चिन्तन और स्मरण करने से प्राप्त होने वाला सद्विचार रूप मन्त्र हो और चाहे प्रभु के वेद के मन्त्रों का स्वाध्याय करने से प्राप्त होने वाला सद्विचार रूप मन्त्र हो, यह दोनों ही प्रकार का मन्त्र उपासक को वृद्धि और उन्नति की राह पर ले जाने वाला है।

इन सभी दृष्टियों से वरुण भगवान् को मन्त्र में ऋधङ्मन्त्र कहा गया है।

भगवान् प्रत्येक कारण में वर्तमान रहते हैं। संसार के दिखाई देने वाले विभिन्न कार्यों के जितने कारण हैं उन सब में भगवान् की सत्ता है। उनकी सत्ता से ही वे कारण अपने निदिष्ट कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं। हम समझते हैं जल, पृथिवी, वायु, सूर्य के प्रकाश और गरमी के योग से धरती पर वनस्पति आदि कार्य उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसा नहीं है। खाली इन तत्त्वों के योग से ही ये कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं। इन तत्त्वों में भगवान् की सत्ता व्यापक है। वह इन तत्त्वों के परमाणुओं को गति देती है और भिन्न-भिन्न अनुपातों में इन्हें मिलाती है। तब जाकर इन कारणों से ये कार्य उत्पन्न होते हैं। नहीं तो जगत् के जड़ कारण स्वयं कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकते थे। प्रत्येक कारण सर्व-व्यापक भगवान् से अधिष्ठित होकर उनसे प्रेरणा और गति प्राप्त करके ही अपना कार्य उत्पन्न कर पाता है।

भगवान् अमृतासु हैं। अमृत का अर्थ होता है जिसकी मृत्यु न हो, जिसका नाश न हो, जो सदा रहे। असु का अर्थ होता है ज्ञान और प्राण। भगवान् में अमर ज्ञानशक्ति और प्राण-शक्ति है। इसलिये वे अमृतासु हैं। उनके ज्ञान में कभी किसी प्रकार की कमी और क्षीणता नहीं आती और न ही कभी उनकी प्राणशक्ति कभी दुर्बल और मन्द पड़ती है। उनका ज्ञान और उनकी प्राणशक्ति सदा एकरस और स्थिर रहती है। इसलिये वे

अमृतासु हैं। अमर असु जिससे प्राप्त हों उसे भी अमृतासु कहेंगे। जो लोग भगवान् की शरण ले लेते हैं उनकी ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति कभी दुर्बल और मन्द नहीं पड़ती उसमें कभी कमी नहीं आती। उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। उपासकों को अमरज्ञान और अमरप्राणों का दाता होने के कारण भी वे प्रभु अमृतासु हैं।

भगवान् सबकी निरन्तर वृद्धि करने वाला होने के कारण वर्धमान हैं। हमारे शरीरों और मनों की जितनी भी वृद्धि होती है उसका मूल कारण भगवान् ही हैं। जब हम सोच-समझ कर विचारपूर्वक भगवान् का आश्रय ले लेते हैं और अपने आपको भगवान् के अर्पण कर देते हैं तो हमारे शरीरों और मनों की यह वृद्धि और भी अधिक आदर्श रूप में होने लगती है। तब उस अमृतासु की संगति में जाने से हमें जो ज्ञान और प्राण शक्तियों की वृद्धि प्राप्त होती है वह अमरकोटि की होती है, वह अविनश्वर होती है। वर्धमान शब्द व्याकरण की रीति से "वृधु" धातु का, जिसका अर्थ वृद्धि होता है, णिजन्त प्रयोग है। परन्तु "णिच्" प्रत्यय का यहां लोप या अन्तर्भाव हो गया है। इसलिये वर्धमानः का अर्थ हमने बढ़ानेवाला ऐसा किया है। इसे अन्तर्भावितणिजन्त प्रयोग माने बिना इस विशेषण की भगवान् में उचित सगति नहीं लग सकती। यदि इसे अन्तर्भावितणिजन्त धातु का प्रयोग न मान कर शुद्ध धातु का ही प्रयोग माना जाये तो इस शब्द का अर्थ होगा—बढ़नेवाला। इस अर्थ की संगति भी एक प्रकार से भगवान् में हो सकती

है। हमारे ज्ञान की दृष्टि से भगवान् में वृद्धि होती है। ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों हमारे आगे भगवान् का स्वरूप भी अधिक-अधिक होता जाता है। अल्पज्ञानी के लिए भगवान् का स्वरूप अल्प होता है और अधिक ज्ञानी के लिये उनका स्वरूप महान् होता है। इस दृष्टि से भगवान् को बढ़ने वाला भी कहा जा सकता है।

भगवान् सुजन्मा है। उन्होंने हम सभी को किस उत्तम रीति से कितना उत्तम जन्म दिया है। उन्होंने हम सभी का जन्म—हम सबकी उत्पत्ति—बड़ी उत्कृष्ट की है। रचना की दृष्टि से हमारे शरीरों में पराकाष्ठा की कला दिखाई गई है। हमारे शरीरों की रचना में रचना-कौशल की समाप्ति हो गई है। हमारे जन्म हमारी उत्पत्ति—एक और दृष्टि से भी उत्तम हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्य जन्म में आकर हम लोग सब प्रकार की उन्नति कर सकते हैं। किसी और योनि के शरीर में यह क्षमता नहीं है। ऐसा उत्तम मनुष्य का जन्म हमें देने के कारण भगवान् हमारे लिये सुजन्मा हैं। भगवान् की संगति में, भगवान् की शरण में, जाने वाले उपासकों का जन्म तो बिल्कुल ही सुधर जाता है, सर्वथा ही उत्कृष्ट हो जाता है। भक्तों के जन्म को उत्तम और उत्कृष्ट जन्म बना देने वाला होने के कारण भी भगवान् सुजन्मा हैं।

भगवान् अदब्धासु हैं। उनके असु को, उनकी ज्ञान-शक्ति और प्राण-शक्ति को कोई दबा नहीं सकता। उनकी ज्ञान

और प्राण शक्ति का सर्वत्र अखण्ड राज्य है। उनकी इस दोनों प्रकार की शक्ति के प्रभाव को कोई कम नहीं कर सकता। उनकी इस शक्ति का सब पर सदा एकरस और अखण्ड शासन रहता है। उनके ज्ञान से बाहर रह कर कुछ भी नहीं हो सकता और ठहर सकता। उनका सर्वग्राही ज्ञान सब कुछ जानता रहता है। हम कितना ही छिप कर कोई काम करें वह प्रभु के ज्ञान से ओझल नहीं रहता। वह प्रभु को पता लग जाता है। और फिर कोई काम करके हम उसके फलभाग से भी नहीं बच सकते। प्रभु की प्राणशक्ति अपने प्रभाव से हमें अवश्यम्भावी रूप से हमारे कर्मों का फल-भोग कराती है। सर्वोपरि ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति भगवान् में रहने के कारण वे अदब्धासु हैं।

भगवान दिनों की भांति प्रकाशमान हैं। जब दिन नहीं होता, रात होती है, तब कितना अन्धकार होता है! रात के अन्धकार की तुलना में दिन में कितना प्रकाश होता है! दिन के प्रकाश से सब कुछ उज्ज्वल हो जाता है। सब कुछ चमचमाने लगता है। रात की तुलना में दिन में कितनी आभा होती है! दिन प्रकाशमय होता है। उसमें आभा के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। वह आभा ही आभा, ज्योति ही ज्योति होता है। भगवान् दिनों की भांति प्रकाशमान् हैं। वे दिन के से उज्ज्वल हैं। उनमें दिन की सी आभा, दिन की सी ज्योति है। वे दिन की भांति प्रकाश ही प्रकाश, ज्योति ही ज्योति हैं। वे ज्योति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। पर उनकी ज्योति चर्म-

चक्षुओं से नहीं देखी जाती। उनकी ज्योति मन से, विचार से, देखी जाती है। दिन की भौतिक ज्योति भौतिक आंखों से देखी जाती है। प्रभु की ज्योति आध्यात्मिक ज्योति है, वह आत्मा से, मन से विचार से देखी जाती है। दिन और परमात्मा दोनों की ज्योति में यह भेद है। जिसे भगवान् की ज्योति दीखने लग जाती है उसके लिये सब कुछ दिन की भांति उज्ज्वल, आध्यात्मिक ज्योति से ज्योतिष्मान्, हो उठता है। भगवान् की ज्योति का अनुभव करने वाले को सारा विश्व एक निराले रंग में रंगा हुआ दीखने लगता है। उसे पत्ते-पत्ते और अणु-अणु में भगवान् की व्यापक आभा दीखने लगती है। भगवान् तो दिन की भांति प्रकाशमान हैं। परन्तु हमारा अज्ञान प्रभु के इस प्रकाश को देखने नहीं देता।

भगवान् त्रित हैं। व्याकरण की रीति से यह शब्द अनेक प्रकार से सिद्ध होता है। और इसीलिये इसके अनेक अर्थ हो जाते हैं। आचार्य यास्क ने इसका अर्थ बुद्धि में सब से आगे पहुंचा हुआ किया है। भगवान की बुद्धि, भगवान् का ज्ञान सबसे बढ़ा हुआ है। उनसे अधिक ज्ञान किसी में भी नहीं है। उनमें हम सब प्राणियों से अधिक—अनन्त अधिक—ज्ञान है। उनमें ज्ञान की सीमा, ज्ञान की पराकाष्ठा, हो जाती है। उनमें हद दर्जे का ज्ञान है। इसलिये भगवान् त्रित हैं। यह शब्द "तॄ" धातु से औणादिक "डितन्" प्रत्यय होकर भी बनता है। "तॄ" धातु का अर्थ तैरना होता है। प्रभु सबके तैराने वाले हैं, सब को पार लगाने वाले हैं, इसलिये वे त्रित हैं। भगवान् का आश्रय

लेकर उपासक पवित्र और पुण्यात्मा बनकर इस संसार सागर को तैर जाता है। संसार-सागर से भली प्रकार पार उतरने में उपासक को सहायता देने के कारण भगवान् त्रित कहलाते हैं। "त्रैङ्" धातु से औणादिक "डितन्" प्रत्यय करके भी यह शब्द बनाया जाता है। त्रैङ् धातु का अर्थ पालन करना होता है। भगवान् सब प्राणियों की भांति भांति से पालना करते हैं इस लिये वे त्रित हैं। जो तीनों में रहता हो उसे भी त्रित कहते हैं। संसार के कई दृष्टियों से तीन विभाग किये जा सकते हैं। संसार का एक प्रसिद्ध वैदिक विभाग द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक के भेद से हैं। भगवान् इन तीनों लोकों में रहते हैं इस लिये वे त्रित हैं। सर्वथा ज्ञानहीन ईंट, पत्थर, मट्टी आदि, कुछ ज्ञानयुक्त पशु-पक्षी आदि और पूर्ण विकसित ज्ञान-युक्त मनुष्य सृष्टि के भेद से भी संसार तीन प्रकार का समझा जा सकता है। भगवान् इन तीनों प्रकार की सृष्टि में व्यापक हैं इस लिये वे त्रित हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक इस भेद से भी संसार के एक भाग के तीन भेद हो सकते हैं। भगवान् इन तीनों में रहते हैं इस लिये वे त्रित हैं। पुण्यात्मा, पापात्मा और पापपुण्योभयात्मा इस भेद से भी संसार के मनुष्यों के तीन भेद हो सकते हैं। भगवान् इन तीनों में व्यापक हैं इस लिये वे त्रित हैं। ठोस, द्रव और वायव्य इसभेद से भी संसार के जड़ भाग के तीन भेद हो सकते हैं। भगवान् इन तीनों में व्यापक हैं इस लिये वे त्रित हैं। भारतीय दार्शनिकों ने सत्त्व, रज और तम के भेद से भी जगत् के तीन विभाग किये हैं। सात्विक, राजस और तामस सृष्टि में व्यापक रहने के कारण

भगवान् त्रित हैं। और भी कई दृष्टियों से संसार के तीन विभाग हो सकते हैं। आचार शास्त्र के क्षेत्र में ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन भेद होते हैं। भगवान् इन तीनों में रहते हैं। अर्थात् इन तीनों के ठीक प्रकार के सेवन से भगवान् भगवान् के दर्शन उपासक को मिल सकते हैं। इस लिये भी भगवान् त्रित हैं। त्रित का एक अर्थ तीनों का विस्तार करने वाला भी होता है। अनेक प्रकार से तीन विभागों में बंट जाने वाला यह सारा जगत् भगवान् का ही विस्तरित किया हुआ है—भगवान् ने ही इसकी रचना की है। अनेक दृष्टियों से विभाग-त्रयापन्न जगत् का विस्तार करने वाला, निर्माण करने वाला, होने से भी भगवान् त्रित कहलाते हैं।

भगवान् धर्ता हैं। उन्होंने सब को धारण किया हुआ है। सारा विश्व-ब्रह्माण्ड उन्हीं ने धारण कर रखा है। सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्र और ग्रहोपग्रह सब प्रभु द्वारा धारित होकर ही अपनी-अपनी कक्षाओं पर नियमित गति से भ्रमण कर रहे हैं। सब पशु-पक्षी और मनुष्यों का जीवन भी, भांति भांति के फल, अन्न और ओषधियें खाने के लिये उत्पन्न करके, भगवान् ने ही धारण कर रखा है। भगवान् सबके धारण करने वाले धर्ता हैं।

भगवान् ने तीनों को धारण किया हुआ है। तीन के विभाग में आने वाली विश्व की सभी चीजों को प्रभु ने धारण कर रखा है द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक को उन्हीं ने धारण कर रखा है। जलचर, स्थलचर और नभोचर सब प्राणियों को उन्हीं ने धारण कर रखा है। ठोस, द्रव और वायव्य सब

पदार्थ उन्हीं ने धारण कर रखे हैं । पदार्थों की किसी भी श्रेणी के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट सब पदार्थ प्रभु ने ही धारण कर रखे हैं । संसार के पदार्थों के सब सात्त्विक, राजस और तामस भेदों को भी उसी प्रभु ने धारण किया हुआ है। संसार के सब पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता भी वे ही प्रभु हैं। वेद-विहित ज्ञान, कर्म और उपासना की पद्धतियों की मर्यादा भी प्रभु ने ही बांधी है। संसार में और भी जो कुछ विभाग-त्रयापन्न है वह सब प्रभु ने ही धारण किया हुआ है। किन्हीं एक दो पदार्थों के नहीं, संसार में जो कुछ भी है उस सब के धारण कर्ता भगवान् ही हैं। दूसरे शब्दों में समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड के धारण-कर्ता प्रभु ही है। वे विश्व को धारण न कर रहे होते तो विश्व एक क्षण भी नहीं स्थिर रह सकता था।

हे मेरे आत्मा! मन्त्र में वर्णित गुणों वाले वरणीय भगवान् का सहारा लेकर तू भी अपने जन्म को सुजन्म बना ले।

सब कारणों में प्रथम विराजमान

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद,
ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।

धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा,
यो वाचमनुदितां चिकेत ॥२॥

अर्थ—हे वरुण प्रभो ! (यः) जो तुम (प्रथमः) सब से पहले (धर्माणि) सब धर्मों को (आ ससाद) प्राप्त करते हो, बनाते हो (ततः) उन धर्मों से (पुरूणि) बड़े बड़े (वपूंषि) रूपों को (कृणुषे) बनाते हो (धास्युः) सब के धारण करने वाले तुम (योनिं) प्रत्येक कारण में (प्रथमः) सब से पहले (आविवेश) प्रविष्ट होते हो (यः) जो तुम (अनुदिताम्) न बोली हुई वाणी को भी (आ चिकेत) अच्छी तरह जान लेते हो।

पिछले मन्त्र में वरणीय प्रभु के कुछ गुणों का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उनकी महिमा का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है।

मन्त्र के प्रथम चरण में कहा गया है कि भगवान् ने सब से पहले सब धर्मों को प्राप्त किया है अर्थात् बनाया है। भगवान् प्रथम हैं—सब से पहले हैं। सभी दृष्टियों से भगवान् सब से पहले हैं। सभी दृष्टियों से भगवान् की संख्या सब से पहली है। हरेक दृष्टि से उनका स्थान सब से पहला है। धर्मों की रचना की दृष्टि से भी भगवान् प्रथम हैं। उन्हीं ने सब से पहले धर्मों की रचना की है। पदार्थों के गुणों को और पदार्थों की नियम-मर्यादा को धर्म कहते हैं। संसार के पदार्थों में हमें जो भांति-भांति के गुण दिखाई देते हैं उन पदार्थों में वे गुण भगवान् ने उनकी जो विशेष प्रकार की रचना की है उसके कारण ही उत्पन्न हुए हैं। और संसार के पदार्थों में हमें जो भांति-भांति की नियम-व्यवस्थायें काम करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं उन पदार्थों की वे नियम-व्यवस्थायें भी भगवान् ने ही बांध रखी हैं। जड़

प्रकृति के परमाणुओं के अपने कुछ स्वाभाविक गुण हैं। परन्तु प्रकृति से बने संसार के पदार्थों में जो गुण हमें दीखते हैं वे तो भगवान् ने अपने ज्ञान से पदार्थों की रचना में परमाणुओं के विशेष-विशेष अनुपातों का जो प्रयोग किया है उसके कारण हैं। और इसी प्रकार संसार में काम कर रही पदार्थों की विभिन्न नियम-व्यवस्थायें भी प्रभु ने ही अपने ज्ञान से बांधी हैं। जड़ प्रकृति से बने पदार्थ स्वयं संसार में दिखाई देने वाली सुन्दर नियम-व्यवस्थाओं में नहीं बन्ध सकते थे। इसी प्रकार मनुष्य के लिये आचार के क्षेत्र में भी भगवान् ने अपने वेदोपदेश द्वारा अनेक प्रकार के धर्मों की—अनेक प्रकार की नियम-व्यवस्थाओं की—रचना की है। पीछे आकर मनुष्य भी अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर अपने सीमित संसार में कुछ धर्मों की—व्यवस्थाओं की—रचना कर लेता है। परन्तु संसार में सबसे पहले और मनुष्यों की बांधी व्यवस्थाओं से कहीं अधिक—अनन्त अधिक—व्यवस्थाओं के बांधने वाले भगवान् ही हैं। इसलिये वे सचमुच धर्मों के सब से पहले रचियता हैं।

मन्त्र के दूसरे चरण में भगवान् को सम्बोधन करके कहा गया है कि हे प्रभो! आप इन धर्मों से बड़े-बड़े रूपों को बनाते हो। इस कथन का तात्पर्य भी स्पष्टता के साथ समझ लेना चाहिये। भगवान् पदार्थों में जो अनेक प्रकार के गुणों का आधान करते हैं और उन्हें भांति-भांति की नियम-व्यवस्थाओं में बांधते हैं इससे संसार के वे पदार्थ बड़े-बड़े सुन्दर रूप धारण कर लेते हैं। उनके रूपों का जितना ही हम अवलोकन करते हैं उतना ही वे मनो-

मोहक प्रतीत होते हैं। नाचते हुए मोर में, कूकती हुई कोकिल के कण्ठ में, इन्द्र धनुष में, बादल की झड़ियों में, चांदी-सी शुभ्र हिम से लदी हुई पर्वतों की चोटियों में, निर्झरों में, प्रपातों में, समुद्र की लहरों में, कमल के फूलों में, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में, प्रभात की उषा में और सायं सन्ध्या में, पवित्र युवक और युवतियों के स्वच्छ कपोलों में, जो सौन्दर्य बसता है वह प्रभु द्वारा पदार्थों में निर्धारित धर्मों के कारण ही आकर बसता है। प्रभु के निर्धारित धर्मों को धारण करने वाले और उनकी धर्ममर्यादा पर चलने वाले सूर्य-चन्द्र आदि आकाशीय पिण्डों की ओर जरा हम देखें। इनके आकार कितने महान् हैं और इनके व्यवहार कितने स्तम्भित कर देने वाले हैं! इन विराट् पिण्डों के स्वरूप में यह महिमा कहां से आती है? इनके भीतर बुद्धि को स्तब्ध कर देने वाला यह बड़प्पन कहां से आता है? इनकी इस उद्दाम महिमा का कारण भगवान् द्वारा इनमें रखे हुए विविध धर्म ही हैं। फिर आचार के क्षेत्र में मनुष्य के लिये भगवान् ने जिन धर्मों का निर्माण किया है उन धर्मों पर चलने से किसी मनुष्य का स्वरूप भी कितना ऊंचा और महान् हो जाता है? इतिहास में उपलब्ध होने वाले राम, कृष्ण, बुद्ध, अशोक, शंकर, दयानन्द, गांधी और रवीन्द्र आदि महापुरुषों के जीवनों में जो महिमा, कान्ति और गौरव दृष्टिगोचर होते हैं वे इसीलिये तो होते हैं कि ये महापुरुष अपने जीवनों को जीवन के भगवान् द्वारा निर्धारित धर्मों के अधिक से अधिक अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं। संसार में जहाँ भी रूप है, जहां भी सौन्दर्य और शोभा है,

जहां भी गौरव और महिमा है वह सब पदार्थों में भगवान् द्वारा दिये हुए धर्मों के कारण ही है। भगवान् पदार्थों में उनके अपने अपने धर्म देकर उन्हें उनका अपना-अपना रूप देते हैं। संसार के छोटे-बड़े सब पदार्थों के विभिन्न रूपों का यही रहस्य है।

मन्त्र के तीसरे चरण में कहा गया है कि भगवान् सबको धारण करने वाले हैं और प्रत्येक कारण में सबसे पहले प्रविष्ट हो रहे हैं। यह भाव पिछले मन्त्र में आ चुका है। परन्तु प्रस्तुत मन्त्र के इस वाक्य में भगवान् के "प्रथमः" इस विशेषण के प्रयोग से पिछले मन्त्र के भाव से इस मन्त्र के भाव में थोड़ी सी विशेषता ला दी गई है। इस चरण के "प्रथमः" इस पद का सम्बन्ध "धारयु" के साथ भी हो सकता है और "योनिं आविवेश" के साथ भी हो सकता है। भगवान् प्रथम धारयु हैं। वे सबसे पहले धारण करने वाले हैं। संसार में एक दूसरे को धारण करने वाले और भी अनेक पदार्थ हैं। परन्तु सबसे प्रथम, सबसे प्रधान, सबसे मूल, धारण करने वाले भगवान् ही हैं। संसार के अन्य पदार्थों में जो धारकता है वह तो उन्हें भगवान् से ही प्राप्त होती है। उनकी तो अपनी सत्ता ही भगवान् पर निर्भर करती है। इसलिये वे स्वतन्त्र धारक नहीं हैं। उनकी धारकता भगवान् पर आश्रित है। संसार में पाए जाने वाले कारणों की भी यही अवस्था है। सांसारिक कार्यों के हमें जो कारण उपलब्ध होते हैं उन सब में भगवान् की सत्ता विद्यमान है। भगवान् से प्रेरित और अधिष्ठित होकर ही वे कारण अपने

अपने कार्यों को उत्पन्न कर पाते हैं। इस प्रकार अन्य कारण रहते हुए भी प्रधान कारण वस्तुतः भगवान् ही हैं। मनुष्य अपने सीमित क्षेत्र में अवश्य स्वतन्त्र कारण होता है। परन्तु जिस साधन-सामग्री से मनुष्य अपने कार्य करता है वह उसे भगवान् के कर्तृत्व से ही प्राप्त होती है। इसलिये मनुष्य का कर्तृत्व भी अन्ततः भगवान् के कर्तृत्व पर आश्रित है। फिर मनुष्य का अपना जीवन ही भगवान् के कर्तृत्व पर निर्भर करता है। इस प्रकार भगवान् प्रथम रूप से सब कारणों में प्रविष्ट हैं और एक दृष्टि से संसार के सब पदार्थों के सर्वप्रधान कारण हैं।

मन्त्र के चतुर्थ चरण में कहा गया है कि वे भगवान् न बोली हुई वाणी को भी भले प्रकार जान लेते हैं। बोली हुई वाणी को तो हम सभी सुन लेते और जान लेते हैं। परन्तु भगवान् तो न बोली हुई वाणी को भी सुन और जान लेते हैं। अभी कोई विचार हमारे मन में ही होता है, स्थूल वाणी का रूप धारण करके वह हमारे मुख से अभी नहीं निकला होता है, भगवान् हमारे मनोगत उस विचार को भी जान लेते हैं। ऐसी भेदक है भगवान् की श्रवणशक्ति और ज्ञानशक्ति। भगवान् घट-घट के वासी से हमारा कोई विचार और कोई संकल्प छिपा नहीं रहता। अन्तर्यामी से भला हमारा कौनसा भाव छिपा रह सकता है? वे भगवान् तो हमारे मनों में भी उठ रहे पुण्य और पाप संकल्पों को जान लेते हैं। जब

हमारे विचार उनसे नहीं छिपे हैं तो हमारे आचरण तो उनसे कहां छिपे रह सकते हैं ? हमारा सब कुछ उनका अच्छी तरह जाना हुआ है। क्योंकि वे मनों के भी ज्ञाता हैं।

ऐसी है उन वरुण भगवान् की विभूति !

हे मेरे आत्मा ! भगवान् के धर्मों को अपने जीवन में धारण करके तू भी अपने रूप को महान् बना ले।

उसके प्रकाश के लिये अपने आपको खाली करलो

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच,
क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः।
अत्रा दधेते अमृतानि नामा-
अस्मै वस्त्राणि विश एरयन्ताम् ॥३॥

अर्थ—हे वरणीय प्रभो ! (यः) जो पुरुष (ते) तुम्हारे (शोकाय) प्रकाश की प्राप्ति के लिये (तन्वं) अपने शरीर को (रिरेच) दोषों से खाली कर लेता है और सद्गुणों से तथा आपसे जोड़ लेता है, जिससे कि उसके शरीर से (हिरण्यं) सुवर्ण (क्षरत्) प्रवाहित हो, और (स्वाः) उसके अपने लोग (अनु) उसका अनुकरण करके (शुचयः) पवित्र बन जायें, (अत्र) ऐसे पुरुष में (अमृतानि) अमर (नामा) नामों को (दधेते) प्रजा के स्त्री और पुरुष रख देते हैं, और (अस्मै) ऐसे पुरुष के लिये (विशः) प्रजायें (वस्त्राणि) वस्त्रों को (आ-ईरयन्ताम) सब ओर से लाती हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में वरणीय भगवान् की महिमा का वर्णन एक निराले ढंग में किया गया है। जो लोग भगवान् के भक्त बन जाते हैं उनकी क्या अवस्था हो जाती है इसका इस मन्त्र में वर्णन किया गया है। भक्तों की अवस्था का वर्णन करके भगवान् की महिमा का वर्णन कर दिया गया है। इसी प्रसंग में प्रभु के उपासकों को कई सुन्दर उपदेश भी कर दिये गये हैं। मन्त्र के पदों को गम्भीरता से विचारने पर मन्त्र का यह सब सुन्दर भाव बड़ा स्पष्ट हो जाता है।

मन्त्र के प्रथम चरण में प्रभु की उपासना के फल और उसके साधन की ओर संकेत किया गया है। प्रभु की उपासना और भक्ति का फल है प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करना। उपासक जब अपने शरीर का रेचन कर लेता है तब उसे प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। रेचन के दो अर्थ होते हैं। एक खाली करना, पृथक् करना और दूसरा सम्बन्ध जोड़ना। मन्त्र में रेचन के लिये "रिरेच" क्रियापद का प्रयोग हुआ है। यह क्रियापद दो धातुओं से बन सकता है। एक "रिचिर" धातु से। इस धातु का अर्थ विरेचन या खाली करना होता है। दूसरे "रिच" धातु से। इस धातु का अर्थ वियोग अर्थात् पृथक् करना और सम्पर्चन अर्थात् सम्बन्ध जोड़ना होता है। इसलिये "रिरेच" इस क्रियापद का समुदित अर्थ हमने खाली करना, पृथक् करना और सम्बन्ध जोड़ना ऐसा कर दिया है। इस आध्यात्मिक प्रकरण में खाली करने और सम्बन्ध जोड़ने का भाव स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। दोषों से,

बुराइयों से, सब प्रकार के पापों से, हमने अपने शरीर को खाली करना है, सब अनाचारों से हमने उसे पृथक् रखना है। सद्गुणों से, भलाइयों से, सब प्रकार के पुण्याचरणों से हमने उसका सम्बन्ध जोड़ना है। दोषों से दूर रहने और सद्गुणों से युक्त रहने में सहायता की प्राप्ति के लिये हमने अपने शरीर का भगवान् से भी सम्बन्ध जोड़ना है। उसकी भी उपासना करनी है। दोषों के त्यागने गुणों के ग्रहण करने और भगवान् की उपासना करने का सम्बन्ध वास्तव में तो आत्मा के साथ है। शरीर के साथ नहीं। आत्मा ही यह सब कुछ कर सकता है। शरीर नहीं। परन्तु क्योंकि आत्मा शरीर में रह कर ही यह सब कुछ करता है, शरीर आत्मा का प्रधान साधन है, इसलिये यहां मन्त्र में आत्मा या जीवन के लिये शरीर के वाचक "तनू" शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। जब हम अपने जीवन का रेचन कर लेते हैं—उसे पापों से पृथक् और पुण्याचरणों से युक्त कर लेते हैं तथा प्रभु के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ लेते हैं—तब हमें भगवान् का प्रकाश प्राप्त होता है। जिस आत्मा ने बुराइयों का विरेचन करके अपने को खाली कर लिया है उसी में भगवान् का प्रकाश भर सकता है।

फिर भगवान् का यह प्रकाश प्राप्त कर लेने पर क्या होता है? इसका उत्तर मन्त्र के दूसरे चरण में दिया गया है। इस चरण में कहा गया है कि भगवान् का प्रकाश इसलिये प्राप्त किया जाता है कि उससे उपासक के शरीर में से हिरण्य प्रवाहित

होने लग पड़े और उसके अपने लोग उसका अनुकरण करके पवित्र बन जायें। जिसे भगवान् का प्रकाश मिल जाता है उसके शरीर में से हिरण्य बहने लगता है। हिरण्य का प्रसिद्ध अर्थ सुवर्ण होता है। यहां सुवर्ण शब्द सुवर्ण जैसी कान्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। जिस उपासक को भगवान् से प्रकाश प्राप्त हो जाता है उसकी काया कुन्दन सी दमकने लगती है। वह सुवर्ण सा तेजस्वी और आभावान् हो जाता है। हिरण्य का शब्दार्थ हितकारी और रमणीय होता है। प्रभु का प्रकाश प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति का जीवन हितकारी और रमणीय हो जाता है। उसके आचरण प्राणिमात्र के लिये हितकारी और रमणीय हो जाते हैं। उसके सुन्दर आचरणों से सब का भला होता है। उसके जीवन में से उपकार का सुन्दर झरना क्षरित होता रहता है—परोकारवृत्ति की गंगा उसके जीवन में से प्रवाहित होती रहती है।

साथ ही जिसे भगवान् का प्रकाश प्राप्त हो जाता है वह अकेले अपने जीवन को ही पवित्र बना कर सन्तुष्ट नहीं रह जाता। वह तो भगवान् का प्रकाश इसलिये प्राप्त करता है कि उससे अपने जीवन को पवित्र बना कर उसके द्वारा अपने से सम्बन्ध रखने वाले लोगों को भी पवित्र बना डाले। वह स्वयं शुचि होकर अपनी शुचिता से अपने से सम्बन्ध रखने वाले अन्य लोगों को भी शुचि बनाने का प्रयत्न करता है। वह अपने जीवन को अनुकरण करने योग्य शुचि बनाता है। उसके अनुकरण से दूसरे लोग शुचि बनते हैं। ऐसा प्रभु से प्रकाश-प्राप्त व्यक्ति अपने समीपस्थ सम्बन्धी लोगों को तो अपना समझता

ही है वह समीपस्थ सम्बधियों से बाहर के लोगों को भी अपना ही समझता है। क्योंकि सभी मनुष्य इस अमर परमात्मा के अमृत पुत्र हैं और इसीलिये सब उसके भाई हैं सब उसके अपने हैं। वह किसे पराया कहेगा? उसके लिये तो कोई भी पराया नहीं है। सब उसके अपने हैं। इसलिये वह सभी को अपने उपदेश और अनुकरणीय जीवन से शुचि—पवित्र—बनाने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है।

मन्त्र के इस प्रसंग से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि प्रभु के उपासक को अपने ही लाभ और उन्नति में तत्पर नहीं रहना चाहिये। उसे आप उन्नत होकर औरों को भी उन्नत करना चाहिये। प्रभु-भक्ति की यह कसौटी है कि अपने को प्रभु-भक्त कहने वाला व्यक्ति अपने आस-पास के लोगों को उन्नत करने का कितना उद्योग करता है। मन्त्र के इस चरण में प्रयुक्त "अनु" पद की ध्वनि को भी सदा ध्यान में रखना चाहिये। हम जिन्हें पवित्र बनाना चाहते हैं वे हमारे अनुकरण से पवित्र होते हैं। हमें अपना जीवन अनुकरणीय रूप से उन्नत और पवित्र बनाना चाहिये। उसका लोगों को उन्नत और पवित्र करने में बड़ा प्रभाव होगा। हमारे उपदेश और व्याख्यान इतना प्रभाव नहीं डालते जितना हमारा जीवन प्रभाव डालता है। हमरे अपने जीवन की पवित्रता दूसरों के जीवन को पवित्र बनाने में जादू का सा असर करेगी। सुधारक और उपदेष्टा को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

जो व्यक्ति इस प्रकार प्रभु का प्रकाश अपने जीवनों में धारण करके कान्तिमान् बन जाते हैं और सदा दूसरों के भले के सुन्दर काम करते रहते हैं तथा अपने जीवन की अनुकरणीय पवित्रता से अन्य लोगों को पवित्र बनाने में अपने जीवनों को लगाते रहते हैं उन्हें क्या मिलता है ? मन्त्र के उत्तरार्द्ध में इसका उत्तर दिया गया है। प्रजा के स्त्री और पुरुष ऐसे लोगों को अमर नाम प्रदान कर देते हैं। लोग ऐसे पुरुषों के नामों को कभी मरने नहीं देते। उनके नामों को अमर रखते हैं। उनके नामों के सदा गीत गाये जाते हैं। आने वाली सन्ततियें उन्हें सदा स्मरण रखती हैं। उनके इतिहास सदा याद रखे जाते हैं। वे मर भी जाते हैं फिर भी लोगों की स्मृति में सदा अमर रहते हैं। वे मर्त्य होकर भी अमर हो जाते हैं। मन्त्र में प्रयुक्त "दधेते" क्रिया के द्विवचन के आधार पर हमने अर्थ में स्त्री और पुरुष इस द्वन्द्व का अध्याहार कर लिया है। इसके अतिरिक्त प्रजा-जन उनके लिये सब ओर से वस्त्रों को लाते रहते हैं। वस्त्र का सामान्य अर्थ शरीर को ढकने वाले कपड़े होता है। इस शब्द का यौगिक अर्थ खाली ढकने वाला होता है। जो भी वस्तु हमारी किसी आवश्यकता को ढकती है—पूरा करती है—वह वस्तु उस आवश्यकता के लिये वस्त्र है। मन्त्र का वस्त्र शब्द हमारी सभी प्रकार की आवश्यकताओं का उपलक्षण है। मन्त्र के इस कथन का तात्पर्य यह है कि ऐसे प्रभु से प्रकाशप्राप्त परोपकारैकव्रती पवित्र पुरुषों की वस्त्र आदि की सभी आवश्यकताओं को प्रजाजन पूरा करते रहते हैं। उन्हें किसी प्रकार की

वैध आवश्यकता की पूर्ति न हो सकने के कारण होने वाला कष्ट नहीं भोगना पड़ता। उनकी सब उचित आवश्यकतायें पूरी होती रहती हैं। प्रजाजन उनकी हरेक इच्छा की पूर्ति करने के लिये सदा उद्यत रहते हैं। और इसमें अपना अहोभाग्य समझते हैं।

प्रभु की शरण में जाने वाले की यह महिमा हो जाती है।

हे मेरे आत्मा! यदि तुम भी चाहते हो कि तुम मर्त्य होकर भी अमर हो जाओ तो तुम भी उस वरणीय प्रभु की शरण में जाकर उसका प्रकाश प्राप्त करो और उस प्रकाश को अन्य लोगों तक पहुँचाने में लग जाओ। यही अमरपद प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है।

उसके उपासक ज्ञानवान् और शक्ति के निर्माता बन जाते हैं

प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः,
सदः सद आतिष्ठन्तो अजुर्यम्।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे
जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम् ॥४॥

अर्थ—(यत्) जब (सदः सदः) घर घर में (आतिष्ठन्तः) रहने वाले (एते) ये प्रजाजन (प्रतरं) सब से श्रेष्ठ और सब के तारक (पूर्व्यं) सब से पहले और सब को पूर्ण करने वाले (अजुर्यम्) कभी जीर्ण न होने वाले, वरुण भगवान् को (प्रगुः) भले प्रकार प्राप्त कर लेते हैं, तब ये (कविः) क्रान्तदर्शी, गहरे

ज्ञानी, कवि हो जाते हैं (शुपस्य) बल के (मातरा) बनाने वाले हो जाते हैं (रिहाणे) परस्पर की प्रशंसा और सत्कार करने वाले हो जाते हैं, तथा (जाम्यै) अपनी कन्या के लिये (धुर्यं) गृहस्थाश्रम की गाड़ी का जूआ उठाने में समर्थ (पतिम्) पति को (आ-ईरयेथाम्) प्राप्त करते हैं

प्रस्तुत मन्त्र में भी पिछले मन्त्र की भांति ही यह बताया गया है कि जिन उपासकों को उस वरणीय प्रभु की प्राप्ति हो जाती है उन्हें क्या-क्या लाभ प्राप्त होते हैं। और इस प्रकार इस वर्णन द्वारा प्रकारान्तर से प्रभु की महिमा का वर्णन कर दिया गया है। इसी प्रसंग में प्रभु के लिये तीन नये विशेषणों का प्रयोग करके उनके कुछ सीधे गुणों की ओर भी निर्देश कर दिया गया है।

भगवान् का पहला विशेषण जो इस मन्त्र में आया है वह "प्रतर" है। प्रतर के दो अर्थ होते हैं। एक सब से श्रेष्ठ और दूसरा सब को भलीभांति तराने वाला। भगवान् अपने नानाविध गुणों के कारण सब से श्रेष्ठ हैं। गुणों में उनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई भी नहीं है। और जो उनकी उपासना में जाते हैं प्रभु उनको तरा देते हैं। उनके जीवनों को सफल और मंगलमय बना देते हैं। उनके जीवन जीतेजी इस जीवन में भी सब प्रकार के कष्टों से पार होकर सुख में रहते हैं और मरने के पीछे वे संसार के क्षणिक सुखों से ऊपर उठ कर मोक्षावस्था में पहुंच जाते हैं जहां वे भगवान् के सीधे साक्षात्कार से प्राप्त होने वाले अवर्णननीय आनन्द का उपभोग करते हैं। भक्तों के जीवनों को संकटों से पार

करने वाला होने के कारण भगवान् सब से श्रेष्ठ तराने वाले भी हैं। भगवान् को सब से श्रेष्ठ और तराने वाला कहने से यह तो स्पष्ट ही ध्वनित हो जाता है कि हमें उस प्रभु की ही उपासना करनी चाहिये, उससे भिन्न किसी अन्य पुरुष और पदार्थ की उपासना हमें नहीं करनी चाहिये।

मन्त्र में प्रभु का दूसरा विशेषण "पूर्व्य" आया है। पूर्व्य के भी दो अर्थ होते हैं। एक सब से पहला और दूसरा सबको पूर्ण करने वाला। भगवान् सभी दृष्टियों से सब से पहले हैं। गुणों में तो वे सब से पहले हैं हीं, इस सारे दृश्यमान जगत् का रचयिता होने के कारण— इस जगत को सत्ता में लाने वाला होने के कारण भी वे सब से पहले हैं। जब यह जगत् अपने रूप में नहीं आया था तब भी भगवान् अपने स्वरूप में विद्यमान थे। भगवान अपने उपासको सब प्रकार से पूर्ण बना देते हैं। भगवान के उपासकों में से सब प्रकार के दुर्गुण निकल जाते हैं और उन में सब सद्गुणों का समावेश हो जाता है। और उनकी जगह सुख आ बसते हैं। उनके सब अभाव दूर होकर उनमें जीवन की पूर्णता आ विराजती हैं। भक्तों के जीवन को पूर्ण बनाने वाला होने के कारण भी भगवान् पूर्ण हैं।

मन्त्र में प्रभु का तीसरा विशेषण "अजुर्य" आया है। अजुर्य का अर्थ होता है जो कभी जीर्ण नहीं होता, क्षीण नहीं होता, दुर्बल नहीं होता, जो कभी नष्ट नहीं होता। संसार के सारे पदार्थ समय पाकर क्षीण, दुर्बल और शक्तिहीन होते हुए अन्त में विनष्ट हो जाते हैं। परन्तु प्रभु सदा एकरस रहते हैं। उनकी शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता, वे कभी क्षीण

नहीं होते, उनका कभी विनाश नहीं होता। वे सदा से पूर्ण शक्ति वाले हैं और सदा पूर्ण शक्ति वाले रहेंगे। क्योंकि वे अजुर्य हैं—जीर्ण न होने वाले हैं।

जब इन गुणों वाले और पूर्व मन्त्रों में वर्णित गुणों वाले प्रभु को घर-घर में रहने वाले लोग पा लेते हैं, उसे भली भांति पहिचान लेते हैं, तो प्रभु के उन उपासकों को जीवन में किसी बात की कमी नहीं रहती। उन्हें सब मंगल प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में कुछ मंगलों की ओर पिछले मन्त्र में निर्देश किया गया था, कुछ मंगलों की ओर प्रस्तुत मन्त्र में निर्देश करते हैं।

एक मंगल तो उपासक को यह प्राप्त होता है कि वह "कवि" हो जाता है। कवि कहते हैं क्रान्तदर्शी को—पदार्थों का गहरा ज्ञान रखने वाले तत्त्वज्ञ को। प्रभु का उपासक कवि हो जाता है—गहरा तत्त्वदर्शी विद्वान् ज्ञानी हो जाता है। उसके ज्ञाननेत्र खुल जाते हैं। सर्वज्ञ और ज्ञानस्वरूप प्रभु की संगति में बैठ कर उपासक भी ज्ञान के मार्ग का पथिक बन जाता है। उसकी बुद्धि प्रखर हो जाती है और उसे पदार्थों का सही रूप हस्तामलक होने लग पड़ता है।

दूसरा मंगल यह प्राप्त होता है कि प्रभु के उपासक लोग बल के निर्माण करने वाले हो जाते हैं। प्रभु के उपासकों के जीवन में बल पैदा हो जाता है। और उस बल के कारण उनमें निर्भयता उत्पन्न हो जाती है। प्रभु बल के—शक्ति के—भण्डार हैं। उनकी संगति में बैठ कर उपासक भी बलशाली बन जाता

है। उपासक का अपना जीवन ही केवल बलशाली नहीं बन जाता प्रत्युत ऐसे उपासक अपने आसपास के लोगों के जीवनों में भी बल फूंक देते हैं। उनमें भी शक्ति भर कर उन्हें निर्भय कर देते हैं। ये प्रभुभक्त उपासक जहां जहां जाते हैं वहां वहां शक्ति और निर्भयता का संचार करते जाते हैं। इनमें और इनके सम्पर्क में रहने वालों में दुर्बलता और भी ता नहीं रह सकती।

तीसरा मंगल यह प्राप्त होता है कि प्रभु के उपासक लोग "रिहाण" हो जाते हैं। रिहाण शब्द "रिह" धातु से बनता है। रिह धातु का अर्थ प्रशंसा करना और पूजा-सत्कार करना होता है। जो लोग परस्पर की प्रशंसा और आदर-सत्कार करने वाले हों उन्हें रिहाण कहेंगे। प्रभु महान् हैं। प्रभु में तुच्छता—छोटापन—नहीं है। प्रभु के उपासकों में भी महत्ता आ जाती है। उनके हृदय विशाल बन जाते हैं। उनमें तुच्छता नहीं रहती। उनके हृदयों में से ईर्ष्या और जलन जाते रहते हैं। वे दूसरों के गुणों और उन्नति को देख कर प्रसन्न होते हैं। इन गुणों और उन्नति के कारण वे उनकी प्रशंसा करते हैं और उनका आदर-सत्कार करते हैं। प्रभुभक्त तंगदिल नहीं होता। वह जहां कहीं कुछ भी अच्छाई होती है झट उसे स्वीकार करता और उसकी प्रशंसा करता है। परस्पर के गुणों की प्रशंसा करना और परस्पर का उचित आदर-सत्कार करना समाज और राष्ट्र के सही संचालन के लिये नितान्त आवश्यक गुण हैं। प्रभुभक्तों में प्रभु की उपासना से ये गुण उत्पन्न हो जाया करते हैं।

मन्त्र के इन वर्णनों के आधार पर सच्चे और झूठे प्रभु-भक्तों की पहिचान की जा सकती है।

एक चौथा मंगल और प्रभु-भक्तों को प्राप्त होता है। सच्चे प्रभुभक्तों को उनकी कन्याओं के लिये गृहस्थाश्रम की गाड़ी का जूआ उठाने में समर्थ—गृहस्थाश्रम के भारी उत्तरदायित्व को उठाने में समर्थ—पति प्राप्त होते हैं। गृहस्थाश्रम की प्रधान चिन्ताओं में से माता-पिता की एक चिन्ता यह होती है कि उन की कन्या किसी सत्पात्र पति के घर में जाये। कन्या के लिये सत्पात्र पति प्राप्त करके माता-पिता को जो सुख और सन्तोष प्राप्त होता है उसका अनुभव केवल माता पिता ही कर सकते हैं। कन्या का असत्पात्र पति माता-पिता को कितना चिन्तित और दुःखी रखता है यह भी माता-पिता ही जानते हैं। प्रभु के उपासक माता-पिताओं की कन्याओं को योग्य वरों की कमी नहीं रहती। उनका अपना और उनकी कन्याओं का पवित्र और गुणमय जीवन अनायास उनकी कन्याओं के लिये सत्पात्र पतियों को खींच लाता है।

हे मेरे आत्मा! तू भी प्रभु का उपासक बन कर उनकी उपासना से मिलने वाले इन मंगलों को प्राप्त करने वाला बन जा।

नर-नारी उसी की कृपा से उन्नति करते हैं।

तदू षु ते महत् पृथुज्मन्,
नमः कविः काव्येना कृणोमि ।
यत् सम्यञ्चात्रभियन्तावभि चाम्,
अत्रा मही रोधचक्रे वावृधाते ॥ ५ ॥

अर्थ—(तत्) इस लिये (पृथुज्मन्) हे महान् गति वाले और महान् पृथिवी लोकों के बनाने और चलाने वाले वरणीय प्रभो (कविः) कवि मैं (काव्येन) काव्य द्वारा (ते) तुम्हारे लिये (उ) ही (सु) उत्तम रीति से (महत्) महान् (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूँ (यत) क्योंकि, तुम्हारी कृपा से ही (सम्यञ्चौ) साथ मिल कर चलने वाले (अभियन्तौ) एक दूसरे की ओर झुकने वाले (रोधचक्रे) बाधाओं पर आक्रमण करने वाले (मही) नर और नारी (अत्र) इस (चाम) पृथिवी पर (अभि वावृधाते) सब ओर से वृद्धि करते हैं।

गत मन्त्रों में भगवान् की महिमा का वर्णन हो रहा था। उस महिमा को सुनते सुनते और उसका चिन्तन करते करते उपासक के हृदय में उस महामहिमाशील प्रभु के लिये नमस्कार की—उनकी महिमा के आगे नम्र हो कर नतमस्तक हो जाने की—भावना प्रबल हो उठती है। पूर्व मन्त्र में वर्णित महिमा के साथ प्रस्तुत मन्त्र में वर्णित उनकी महिमा भी उपासक को प्रभु के आगे

नतमस्तक होने के लिये विवश करती है और उपासक के मुख से मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वर्णित नमस्कार के भाव अनायास निकल पड़ते हैं। वह अपने प्रभु से कहता है कि हे भगवान् मैं आपको खूब नमस्कार करता हूं और केवल आपको ही नमस्कार करता हूँ। आप से भिन्न मेरे लिये और कोई उपासनीय नहीं है। मेरा नमस्कार स्वीकार कीजिये। मेरी भक्ति को ग्रहण कीजिये

भक्त भगवान् से कहता है कि मैं कवि हूँ और काव्य द्वारा आपको नमस्कार करता हूँ। भक्त की इस उक्ति का मर्म समझ लेना चाहिये। कवि क्रान्तदर्शी को—गहरे ज्ञानी को—कहते हैं। और कवि के कविपन को, उसके ज्ञान को, काव्य कहते हैं। प्रभु के भक्त को ज्ञानी होना चाहिये। उसे प्रभु के गुणों और महिमा को पूरी तरह समझना चाहिये। और फिर समझपूर्वक ही उसे प्रभु की भक्ति और उनके लिये नमस्कार करना चाहिये। उसके नमस्कार और उसकी भक्ति बिना सोचे समझे की जाने वाली तोतारटन्त मात्र नहीं होनी चाहिये। उसकी भक्ति गम्भीर विचार और चिन्तन पर आश्रित होनी चाहिये।

इस कथन का एक भाव और भी हो सकता है। कवि कविता करने वाले को भी कहते हैं और कवि की कविता को काव्य कहते हैं। इस अर्थ में मंत्र के इस कथन का भाव यह होगा कि मैं कवितायें बना बना कर और गा गा कर आपकी भक्ति और नमस्कार करता हूँ। गद्य की अपेक्षा पद्य में, कविता में, भक्ति के भाव जागृत करने की और चित्तको एकाग्र करने की बहुत अधिक शक्ति होती है। और जब कविता के साथ संगीत को मिला

दिया जाय तो उस में और भी अधिक रस पैदा हो जाता है। इसी लिये वेद मन्त्रों की रचना भगवान् ने छन्दोबद्ध कविता में की है। वेद को इसीलिये वेद में ही काव्य भी कहा गया है। हम प्रभु की उपासना वेदमय काव्य द्वारा और अपने नये काव्यों द्वारा दोनों ही प्रकार से कर सकते हैं।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में भगवान् का एक विशेषण "पृथुज्मन्" आया है। इस पद के दो अर्थ होते हैं। एक तो विस्तीर्ण गति वाला, महान् गति वला, और दूसरा महान् पृथिवी लोकों को बनाने वाला और चलाने वाला। भगवान् दोनों ही दृष्टियों से पृथुज्मा हैं। भगवान की सर्वत्र गति है—वे सर्वव्यापक हैं। इस लिये भी वे पृथुज्मा हैं। भगवान ने बड़े बड़े पृथिवी आदि लोक लोकान्तर बनाये हैं। फिर इन लोकों को बना कर इन्हें चला भी भगवान् ही रहे हैं। इन लोकों की जो बुद्धि को स्तब्ध कर देने वाली बिराट् गतियें हैं वे भगवान् ने ही इन में प्रदान की हैं। इस लिये भी भगवान् पृथुज्मा हैं।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में वरुण भगवान् की एक और महिमा का वर्णन किया गया है। कहा गया है कि इस धरती पर रहने वाले नरनारियों की सर्वतोमुखी वृद्धि उन प्रभु की कृपा से ही होती है। मन्त्र में नर और नारियों के लिये "मही" इस द्विवचनान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। मही शब्द वेद में द्युलोक और पृथिवी लोक के लिये प्रयुक्त होता है। फिर वेद में द्युलोक केवल सूर्य और उस स्थान का ही नहीं कहते जहां तारे चमकते हैं और पृथिवी न केवल इस धरती को ही कहते हैं। वेद में द्युलोक का

अर्थ पिता और पृथिवी का अर्थ माता भी होता है। पिता मनुष्य
जाति के नर समुदाय का और माता नारी समुदाय का प्रतिनिधि
है। इस प्रकार वेद में द्यावापृथिवी माता पिता के और सामान्येन
नर और नारी के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। हमने यहां द्यावा-
पृथिवी के वाचक "मही" शब्द के प्रसिद्ध अर्थ सूर्य और पृथिवी
की "मन्त्रार्थ में संगति न हो सकने के कारण उसका दूसरा अर्थ
नर और नारी कर लिया है। यह अर्थ अधिक संगत, चमत्कारपूर्ण
और शिक्षाप्रद है।

धरती पर रहने वाले जनसमाज के नर और नारी ये दो
अंग हैं। ये दोनों मिल कर ही समाज की रचना करते हैं। दोनों
में से किसी एक के अभाव में न समाज बन सकता है और न
चल सकता है। समाज की दृष्टि से दोनों की बराबर महिमा है।
नर और नारी के योग से बनने वाला मनुष्य समाज भगवान् की
कृपा से ही इस धरती पर सब प्रकार की वृद्धि और उन्नति कर
सकता है। उन्नति करने के लिये आवश्यक स्वस्थ शरीर और उत्तम
मस्तक आदि हमारे अपने कहे जाने वाले पदार्थ तथा सूर्य और
चन्द्रमा के प्रकाश और गरमी, वायु, अग्नि, बिजली और भूमि
आदि तत्त्व और भूमि में से निकलने वाले लोहा, सोना, चांदी
और तेल आदि पदाथ तथा भूमि पर पैदा होने वाले भांति-भांति
के भोज्य पदार्थ—ये सब उस प्रभु की कृपा ही से तो हमें मिलते
हैं। जब तक भगवान् चाहते हैं तभी तक तो हम इनका उपयोग
ले सकते हैं। स्वयं हमारा जीवन भी तो प्रभु की कृपा से ही हमें
मिला है। जब भगवान् नहीं चाहते उसके एक क्षण बाद भी तो

हम अपने जीवन को सम्भाल कर नहीं रख सकते। भगवान् की इच्छा न रहने पर हमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है। हमारी जो कुछ वृद्धि और उन्नति हो रही है उसकी तह में महामहिमाशाली भगवान् की कृपा ही काम कर रही है।

मन्त्र में नर और तीन के लिये तीन विशेषणों का प्रयोग हुआ है। इनसे वृद्धि और उन्नति के लिए आवश्यक तीन महत्त्वपूर्ण बातों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। पहला विशेषण है "सम्यञ्चौ"। इसका अर्थ होता है मिल कर चलने वाले। जिस समाज के नर और नारी मिल कर चलेंगे, परस्पर लड़ें और झगड़ेंगे नहीं, एक दूसरे को पिछड़ने नहीं देंगे वही समाज उन्नति कर सकेगा। दूसरा विशेषण है "अभियन्तौ।" इसका अर्थ होता है एक दूसरे की ओर जाने वाले, एक दूसरे की ओर झुकने वाले, एक दूसरे की ओर खिंचने वाले—एक दूसरे से प्रेम करने वाले। जिस समाज के नरनारियों में परस्पर के लिये खिंचाव और प्रेम रहेगा, प्रेम के कारण जिस समाज के नरनारी परस्पर को अपना अंग समझते हुए पारस्परिक उन्नति के लिये यत्नशील रहेंगे वही समाज वास्तव में उन्नति कर सकेगा। जिस समाज में पुरुषों को केवल पुरुषों की और स्त्रियों को केवल स्त्रियों की उन्नति की चिन्ता रहेगी वह समाज उन्नति नहीं कर सकेगा। दोनों को दोनोंकी उन्नति से प्रेम रहना चाहिये। दोनों का दोनों के भले की ओर झुकाव रहना चाहिए। तीसरा विशेषण है "रोधचक्रे।" 'रोध' का अर्थ होता है रुकावट, बाधा। और "चक्र" का अर्थ होता है आक्रमण करने वाला। जो रुकावटों और बाधाओं पर आक्रमण करके उन्हें दूर

करते रहें, उन्हें विनष्ट करते रहें, वे नर और नारी रोधचक्र कहलायेंगे। उन्नति के लिए नरनारियों में इस गुण का रहना नितान्त आवश्यक है। जो लोग रुकावटों से, विघ्नबाधाओं से, घबरा जाते हैं, उनका मुकाबला नहीं कर सकते और इसीलिए हाथ में लिये कामों को छोड़ बैठते हैं वे कभी उन्नति नहीं कर सकते। हमें विघ्नबाधाओं से घबराना नहीं चाहिये। हमें डट कर उनका सामना करना चाहिये। उन्हें अपने मार्ग से दूर करने के लिए कमर कसकर खड़े हो जाना चाहिए। बाधाओं से लड़ने की यह शक्ति जिन नरनारियों के हृदयों में रहेगी वे अपनी सर्वतोमुखी उन्नति कर सकेंगे। विरोध से डरने वाले, हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने वाले निरुद्यमी लोग कभी कोई उन्नति नहीं कर सकते। सफलता का सेहरा "रोधचक्र" वृत्ति वाले नरसिंहों के सिर पर ही बंधा करता है।

भगवान् की कृपा से मिलनेवाले वृद्धि और उन्नति के सहायक पदार्थों से किसी समाज के नरनारी तभी लाभ ले सकेंगे जब उनमें अन्यान्य गुणों के साथ इन विशेषणों में वर्णित ये तीनों बातें भी होंगी।

हे मेरे आत्मा! तू भी प्रतिदिन प्रभु की महिमा और कृपा का स्मरण किया कर और उनके चरणों में अपने को नतमस्तक करता रहा कर।

—:❀:—

सात मर्यादायें

सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुः,
तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे,
पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥६॥

अर्थ—(कवयः) क्रान्तदर्शी वरुण भगवान् ने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादायें (ततक्षुः) बनाई हैं (तासाम्) उनमें से एकाम) एक को (इत्) भी यदि कोई (अभ्यगात्) उल्लंघित कर देता है—तोड़ देता है, तो वह (अंहुरः) पापी होता है (पथां) विविध मार्गों का (विसर्गे) त्याग कर देने पर (धरुणेषु) धारण करने वाली—रक्षा करने वाली अनेक शक्तियों के बीच में (आयोः) मनुष्य का (स्कम्भः) मर्यादा-भङ्ग से थामने वाला सहारा (उपमस्य) सबके समीप रहने वाले वरुण प्रभु के (नीडे) आश्रय में (ह) ही (तस्थौ) स्थित है।

भगवान् ने सात मर्यादायें बनाई हैं। हम यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो उनमें से किसी एक का भी हमें उलङ्घन नहीं करना चाहिये—किसी एक को भी हमें नहीं तोड़ना चाहिये। यदि हम उनमें से किसी एक का भी उल्लंघन करते हैं तो हम पापी हो जाते हैं। और पापी का कल्याण नहीं हो सकता।

वे सात मर्यादायें कौनसी हैं ? भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इन मर्यादाओं की कल्पना की है। आचार्य यास्क ने

अपने निरुक्त में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए निम्न सात मर्यादायें बताई हैं:—(१) चोरी न करना (२) व्यभिचार न करना (३) ब्रह्महत्या न करना (४) गर्भपात न करना (५) मद्यपान न करना (६) किसी बुरे काम को बार बार न करना (७) पाप हो जाने पर झूठ न बोलना। सायणाचार्य्य ने अपने ऋग्वेद भाष्य में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए एक तो सात मर्यादायें वे ही स्वीकार की हैं जो यास्काचार्य ने लिखी हैं। दूसरे, मनु आदि ने अपने शास्त्रों में जो त्यागने योग्य कामज और क्रोधज दोष लिखे हैं उनमें से प्रधान सात को छांट कर उनके परित्याग को सात मर्यादायें माना है। वे काम और क्रोध से पैदा होने वाले सात दोष जिनसे हमें सदा बचना चाहिये निम्न हैं:—(१) मद्य पीना (२) जूआ खेलना (३) स्त्रियों में अत्यासक्ति (४) शिकार खेलना—प्राणियों की हिंसा करना (५) निरपराध को दण्ड देना (६) कठोर वाणी बोलना (७) दूसरों पर मिथ्या दोषारोप करना। चाहे हम यास्क का अर्थ स्वीकार करें और चाहे सायण का। दोनों ही ने जो मर्यादायें बताई है वे पूर्ण रीति से पालन करने योग्य हैं। उनमें से किसी एक का भी उल्लंघन हमें नहीं करना चाहिये। उनमें से किसी एक का उल्लङ्घन करना भी हमारे जीवन को घोर पापी बनायेगा। उनमें से अधिकांश के या सबके उल्लङ्घन का तो कहना ही क्या। तब तो मनुष्य का जीवन पाप से सना हुआ हो जायेगा। इन मर्यादाओं का उल्लङ्घन—इन निषिद्ध कर्मों का करना कितना अधिक पाप पूर्ण है, कितना अधिक मनुष्य को

पतित करने वाला और उसकी अधोगति करने वाला है इसे पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं। हमें यहां इनकी विस्तार से व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

हमें इन सात मर्यादाओं की एक और व्याख्या भी सूझती है। पाठकों के विचार और मनोरंजन के लिये उसे भी यहां लिख देते हैं। वेद में कई स्थानों पर इस प्रकार के वर्णन आते हैं कि हमारे इस शरीर में सात ऋषियों का निवास है—"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे," (यजुः ३४।५५) "अत्रासत ऋषयः सप्तसाकम्" (अथर्व० १०।८।९)। ये सात ऋषि आंख, कान, नाक, रसना, त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन और आत्मा हैं। ऋषि का शब्दार्थ होता है देखने वाला—जानने वाला। क्योंकि हमें संसार के सब पदार्थों का ज्ञान इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों और मन और आत्मा के द्वारा ही होता है इसलिये ये सात ऋषि हैं। यास्काचार्य ने सात ऋषियों का यही अर्थ किया है। शरीर में रहने वाले सात ऋषि अर्थात् ज्ञान के साधन इन सातों से भिन्न और कोई हो भी नहीं सकते। अब, इन सातों ऋषियों के हमारे जीवन में अपने अपने निश्चित कार्य हैं जिन से हमारा जीवन चलता है। इन ऋषियों का अपना अपना जीवनोपयोगी निश्चित कार्य ठीक प्रकार से, जैसा चाहिये वैसा, होते रहना तो मर्यादा है और इनका कार्य ठीक प्रकार से, जैसा चाहिये वैसा, न होना मर्यादा का उल्लंघन है। परमात्मा ने इन सातों को शरीर में अपना अपना काम सौंप रखा है। इनके उस उसकाम का भली भांति होते रहना मर्यादा

है। और उनका भली भांति न होना, इस प्रकार होना जिससे जीवन हीन, पतित और संकट-ग्रस्त हो जाये, मर्यादा का भंग है।

आंख का कार्य रूप दिखाना है। रूपों का देखना जीवन को भली-भांति चलाने में जहां तक सहायक है वहां तक तो हमें अपनी आंखों को रूप के क्षेत्र में जाने देना चाहिये। इससे आगे नहीं। इससे आगे रूप विषय बन जाता है—बांधनेवाला, फंसाने वाला, बन जाता है। इससे आगे जाना रूप देखना नहीं रहता। वह रूपासक्ति हो जाती है। रूप-ज्ञान तो जीवन के लिये सहायक और आवश्यक है। परन्तु रूपासक्ति जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देती है। रूपासक्ति में पड़ कर मनुष्य न जाने कैसे-कैसे निन्दनीय पापाचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में, नेत्रों से होने वाले पाप न करना यह एक मर्यादा है। हमें इस नेत्र-मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। आंख से होने वाले पाप हमें नहीं करने चाहियें। यदि हम इसका उल्लङ्घन करेंगे तो पापी हो जायेंगे।

कान का कार्य शब्द का ज्ञान कराना है। जहां तक शब्द-ज्ञान जीवन के लिये सहायक है वहां तक तो हमें कानों को शब्द के क्षेत्र में रहने देना चाहिये। उससे आगे उन्हें नहीं जाने देना चाहिये। उससे आगे जाने देना शब्दासक्ति, शब्दरस या ध्वनिलोलुपता है। शब्द-ज्ञान तो जीवन के लिये सहायक और आवश्यक है। परन्तु शब्दरस जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देता है। वह विषय बन जाता है—बांधने वाला, फंसाने वाला, बन जाता

है। शब्दरस में फंस कर मनुष्य न जाने कैसे कैसे निन्दनीय आचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में, कानों द्वारा शब्दरस में फंस कर होने वाले पाप न करना यह दूसरी मर्यादा है। हमें इस श्रवणमर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये कान से होने वाले पाप हमें नहीं करने चाहियें। हम यदि इसका उल्लंघन करेंगे तो पापी हो जायेंगे।

नाक का कार्य गन्ध का ज्ञान कराना है। जहां तक गन्ध ज्ञान जीवन के लिए सहायक और उपयोगी है वहां तक तो हमें नासिका को गन्ध के क्षेत्र में जाने देना चाहिए। इससे आगे नहीं। इससे आगे जाना गन्धग्रहण न रह कर गन्धासक्ति हो जाती है। गन्धग्रहण, गन्धज्ञान, तो जीवन के लिए सहायक और आवश्यक है। परन्तु गन्धासक्ति जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देती है। गन्धासक्ति विषय बन जाती है—बांधने वाली, फंसाने वाली बन जाती है। गन्धासक्ति में फंस कर मनुष्य न जाने कैसे २ हीन आचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में, गन्धासक्ति में फंस कर होनेवाले बुरे आचरणों को न करना तीसरी मर्यादा है। हमें इस घ्राणमर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। नाक से होने वाले पाप हमें नहीं करने चाहियें। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो पापी हो जायेंगे।

रसना का कार्य पदार्थों के रस को—उनके स्वाद को—बताना है। जिह्वा द्वारा विभिन्न पदार्थों का रसग्रहण जहां तक जीवन के लिये सहायक और उपयोगी है वहां तक तो हमें उसे

रस के क्षेत्र में जाने देना चाहिये। उससे आगे नहीं। उससे आगे जाना रसग्रहण न रह कर रसासक्ति हो जाती है। रसग्रहण तो जीवन के लिये सहायक और आवश्यक है। परन्तु रसासक्ति जीवन को हीन, पतित, और संकटमय बना देती है। रसासक्ति विषय बन जाती है—बांधने वाली, फंसाने वाली, बन जाती है। रसासक्त होकर न जाने कैसे कैसे बुरे आचरण मनुष्य कर बैठता है। दूसरे शब्दों में, रसासक्ति में फंस कर होनेवाले बुरे आचरणों को न करना चौथी मर्यादा है। हमें इस रसना-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। रसना से होने वाले पाप हमें नहीं करने चाहियें। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो हम पापी बन जायेंगे।

त्वचा का कार्य स्पर्श का ज्ञान कराना है। शीत, उष्ण, नरम, खुरदरे आदि स्पर्शों का ज्ञान हमें जीवन के संचालन और रक्षण के लिये नितान्त आवश्यक होता है। जहां तक स्पर्श-ज्ञान जीवन के लिये सहायक और उपयोगी है वहां तक तो हमें अपनी त्वचा इन्द्रिय को स्पर्श के क्षेत्र में जाने देना चाहिये। उससे आगे नहीं। उससे आगे जाना स्पर्शग्रहण न रह कर स्पर्शासक्ति बन जाती है। स्पर्शग्रहण तो जीवन के लिये सहायक और आवश्यक है। परन्तु स्पर्शासक्ति जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देती है। स्पर्शासक्ति विषय बन जाती है—बांधने वाली, फंसाने वाली, बन जाती है। स्पर्शासक्ति के अनेक भेद हैं। स्पर्श में अति मुलायम और नरम लगने वाले वस्त्रों को धारण करने की लालसा होना एक प्रकार की स्पर्शासक्ति है। नर-नारी के शरीरों

की पारस्परिक कोमलता और मृदुता का स्पर्श करने की लालसा होना एक दूसरे प्रकार की स्पर्शासक्ति है। नर-नारी को परस्पर संभोग करने की लालसा होना एक तीसरे प्रकार की स्पर्शासक्ति है। चुम्बन करने की इच्छा होना एक चौथे प्रकार की स्पर्शासक्ति है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक आसक्ति के साथ दूसरी आसक्ति भी मिली रहती है। सुन्दर वस्त्रों के धारण में स्पर्शासक्ति के साथ रूपासक्ति भी मिली रहती है। इसी प्रकार नर-नारी के परस्पर आकर्षण में स्पर्शासक्ति के साथ रूपासक्ति भी मिली रहती है। अन्य आसक्तियों की भांति स्पर्शासक्ति में फंस कर भी न जाने मनुष्य कैसे कैसे पापाचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में, स्पर्शासक्ति में फंस कर होने वाले पापों को न करना पांचवीं मर्यादा है। हमें इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। हमें त्वचा से होने वाले पाप नहीं करने चाहियें। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो पापी बन जायेंगे।

छठी मर्यादा मन की है। मन हमारे ज्ञान को, हमारी बुद्धि को, हमारी समझ को सूचित करता है। जैसी हमारी बुद्धि होती है, जैसा हमारा ज्ञान होता है, जैसी हमारी समझ होती है हम उसी प्रकार के आचरण किया करते हैं। एक विशेष प्रकार की बुद्धि या मन वाला व्यक्ति ऊपर वर्णित इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता और एक दूसरे प्रकार की बुद्धि या मन वाला व्यक्ति उनमें झट आसक्त हो जाता है। इन्द्रियों की आसक्ति का मूल कारण वस्तुतः हमारा मन, हमारी बुद्धि या हमारी समझ ही होती है। जैसी हमारे मन की बनावट होगी उसी के आधार पर

हम इन्द्रियों के विषयों में आसक्त या अनासक्त रहेंगे। इसलिये यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि हम देखते रहें कि हमारा मन कैसा बन रहा है, हमारी बुद्धि कैसी हो रही है—उसमें किस प्रकार के ज्ञान का, किस प्रकार के विचारों का घर बन रहा है। हमारे मन में उस प्रकार के विचारों का घर होना चाहिये जिस प्रकार के विचारों से हम इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होंगे। हमारा मन सही विचारों का घर होना चाहिये, भ्रान्त विचारों का नहीं। भ्रान्त विचार भ्रान्त पुरुषों और भ्रान्त पुस्तकों की संगति में रहने से पैदा होते हैं। हमें उनसे बचना चाहिये। और सही विचार देने वाले पुरुषों और पुस्तकों की संगति में रहना चाहिये। हमारे मन के भ्रान्त विचार हमें इन्द्रियों के विषयों में आसक्त कराके तो हम से पापाचरण करा ही डालते हैं, वे हम से कई इस प्रकार के पाप और दुराचरण भी करा डालते हैं जिनका पांच इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति से सीधा संबन्ध नहीं होता। झूठ बोलना, चोरी करना, निरपराध को दण्ड देना, गाली देना, शिकार खेलना, जुआ खेलना, दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करना, दूसरों की स्वतन्त्रता को हर लेना आदि इसी दूसरी कोटि के अपराध हैं। इन अपराधों का मूल कारण हमारे मन का भ्रांत और अधूरा ज्ञान ही है। अपने मन के अधूरे और भ्रांत ज्ञान के कारण न जाने हम कैसे कैसे भयंकर से भयंकर पापाचरण किया करते हैं। इस प्रकार मन को भ्रांत विचारों के मार्ग पर न जाने देना जिससे हम पापाचरणों से बचे रहें छठी मर्यादा है। हमें इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। हमें मन से होने वाले पाप नहीं

करने चाहियें। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो पापों में फंसे रहेंगे।

सातवीं मर्यादा आत्मा की है। हमारा आत्मा अपने आप में शुद्ध और पवित्र है। अपने आप में वह पाप की ओर नहीं जाता है। परन्तु जब वह शरीर के बन्धन में आजाता है और उसे भिन्न भिन्न विषयों को दिखाने वाली इन्द्रियें मिल जाती हैं तथा भ्रान्त विचार देने वाले पुरुषों और ग्रन्थों की संगति उसे मिल जाती है तो वह पाप की ओर भी प्रवृत्त होने लगता है। मन और आत्मा, बुद्धि या ज्ञान और आत्मा दो भिन्न भिन्न वस्तुयें नहीं हैं। ज्ञान आत्मा का ही गुण है, वह आत्मा में ही रहता है। और इस लिये भ्रान्त ज्ञान से होने वाले पापाचरणों की जिम्मेवारी वस्तुतः आत्मा पर ही है। परन्तु जब आत्मा शरीर के बन्धन में आजाता है तो वह शरीर में रहने वाले कुछ साधनों के द्वारा ही ज्ञान का सम्पादन कर सकता है। इन साधनों में प्रधान साधन को भारतीय विचारधारा में साधारणतया मन के नाम से कहा जाता है और पाश्चात्य विचारधारा में मस्तिष्क के नाम से कहा जाता है। मन और मस्तिष्क आत्मा के ज्ञानसंग्रह के प्राकृतिक साधन हैं जो कि शरीर में रहते हैं। हो सकता है कि ये एक ही चीजके दो नाम हों। यह भी हो सकता है कि मन मस्तिष्क में रहने वाला कोई पृथक् प्राकृतिक सूक्ष्म पदार्थ हो। क्योंकि शरीर में रहने वाला आत्मा मन या मस्तिष्क द्वारा ही ज्ञान का संग्रह और प्रकाश कर सकता है इस लिये मन को एक पृथक् सत्ता मान कर उसके सही आचरण को एक पृथक् मर्यादा बता दिया गया है। यों

प्राकृतिक अर्थ में मन एक जड़ वस्तु है जो कि ज्ञान के संग्रह और प्रकाश का साधन मात्र है। और आत्मिक अर्थ में मन मनन का, चिन्तनका, विचारका, बुद्धि का, ज्ञान का नाम है जो कि आत्मा का ही गुण है और जो आत्मा से कभी पृथक् नहीं रहता। इन्द्रियोंसे प्राप्त होने वाले विषयों और उत्पथ पर ले जाने वाले पु षों और ग्रन्थों की संगति में आकर चाहे आत्मा पापाचरणों में प्रवृत्त हो जाता है और असावधान रहे तो चाहे बहुत लम्बे अरसे तक भी उन में प्रवृत्त हुआ रहता है, परन्तु फिर भी उस में यह शक्ति ह कि यदि वह चाहे और एक बार संकल्प करले कि बस! अब इस पाप के मार्ग को छोड़ देना है तो वह तत्काल पाप के मार्ग को छोड़ कर पुण्य के पथ पर चलने लग सकता है। आत्मा की संकल्पशक्ति में इतना बल है। आत्मा अपनी संकल्प शक्ति को प्रयोग में लाकर सदा पुण्य के मार्ग में चलता रहे यह सातवीं मर्यादा है। हमें इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। हमें आत्मिक पाप नहीं करने चाहियें। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो हम पापी हो जायेंगे।

संसार के जितने और भी पाप हैं वे इन्हीं सातों मर्यादाओं के भंग से होते हैं। इनसे बाहर कोई पाप नहीं रह जाता। सात मर्यादाओं की हमारी यह व्याख्या स्वीकार कर लेने पर ये मर्यादायें एक निश्चित आधार पर आश्रित हो जाती हैं। फिर इनकी भिन्न-भिन्न कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। नहीं तो सदा यह प्रश्न रहेगा कि अमुक अमुक सात पापों का वर्जन ही मर्यादा क्यों है दूसरे पापों का क्यों नहीं? फिर यह

भी प्रश्न रहेगा कि भगवान् की बांधी हुई सात मर्यादयें कौनसी हैं? हमारी व्याख्या में इन प्रश्नों का स्थान नहीं रहता। यास्काचार्य्य और सायणाचार्य्य के परिगणन को हमारी निर्दिष्ट मर्यादाओं के भंग के कुछ स्थूल उदाहरण मात्र समझा जा सकता है। और इस प्रकार दोनों व्याख्याओं की संगति हो जाती है।

परन्तु हमतो इन मर्यादाओं का भंग प्रायः करते रहते हैं। और इसीलिये पाप के भागी बनते रहते हैं। इस मर्यादाभंग से—इस पाप में गिरते रहने से—हमारी रक्षा कैसे होगी? पाप के इस मार्ग पर चलने से हमें कौन रोकेगा? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दिया गया है। मन्त्र कहता है कि मनुष्य को पाप के गढ़े में गिरने से रोकने-थामने वाला सहारा एक ही जगह है। वह जगह है प्रभु का आश्रय। इस आश्रय को ढूंढने के लिये हमें कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु का यह आश्रय हमारे अत्यन्त समीप है। प्रभु हम सबके घट-घट के वासी हैं। उन्हें अपने हृदय में ही पा लेना होता है। जब मनुष्य इस सहारे को पा लेगा, जब वह इस स्कम्भ से - स्तम्भ से—अपने आप को बांध लेगा तो विषयों की बाढ़ उसे पाप में गिराने के लिए बहा कर नहीं ले जा सकेगी। पाप से बचने के लिये प्रभु का आंचल पकड़ लेना ही एकमात्र रास्ता है जिस पर चलने से हम पाप से बच सकते हैं। परमात्मा से भिन्न पदार्थों की उपासना के जितने भी मार्ग हैं उन सबका हमें परित्याग कर देना होगा। अन्य सब मार्गों का परित्याग करके हमें प्रभु की उपासना में—प्रभु की संगति में—जाना होगा। तभी हमारा

पाप से परित्राण हो सकेगा। अच्छे गुरु, माता-पिता आदि और भी अनेक हमारे धरुण—हमारे धारण करने वाले, हमारी रक्षा करने वाले, हो सकते हैं। परन्तु इनसे मिलने वाला सहारा कुछ दूर तक ही हमारे काम आता है। ये सब अपूर्ण हैं। इस लिये इनसे पूर्ण परित्राण हमें नहीं मिल सकता। घट-घट के वासी अन्तर्यामी वे प्रभु पूर्ण हैं। वे हमें पाप से पूरी तरह त्राण दे सकते हैं। भगवान् में सत्य, न्याय, दया, ज्ञान, संयम आदि गुण परिपूर्ण मात्रा में रहते हैं। वहां इन गुणों की पराकाष्ठा—हद हो गई है। प्रभु का आंचल पकड़ लेने पर, प्रभु की उपासना में—प्रभु की संगति में—चले जाने पर, हमारे भीतर भी ये गुण भरपूर परिमाण में संक्रान्त हो जायेंगे। और तब हमें पाप में फिसलने का डर नहीं रहेगा।

मन्त्र का "कवयः" शब्द परमात्मा का वाचक है। वेद में स्थान-स्थान पर परमात्मा को कवि कहा गया है। परमात्मा सब पदार्थों का पारदर्शी ज्ञान रखने तथा वेद काव्य के कर्त्ता होने के कारण कवि हैं। मन्त्र में "कवयः" पद बहुवचनान्त है। व्याकरण की रीति से इसे आदर में बहुवचन समझना चाहिये।

हे मेरे आत्मा! तू भी अपने आपको अन्तर्यामी प्रभु के खम्भे से भली प्रकार बांध ले। फिर तुझे पाप की बाढ़ में बह जाने का डर नहीं रह जायेगा।

प्रभु की उपासना के फल

उताम्रृतासुर्वत एमि कृण्वन्
असुरात्मा तन्वस्तत् सुमद् गुः ।
उत वा शक्रो रत्नं दधा-
त्यूर्जया वा यत् सचते हविर्दाः॥७॥

अर्थ – मैं प्रभु का उपासक प्रभु का आश्रय लेकर (व्रतः) व्रतों का पालन करने वाला (उत) और (अमृतासुः) अमर प्राण और प्रज्ञा वाला (कृण्वन्) निरन्तर कर्म करते रहने वाला होकर (एमि) चलता हूं (तत्) तब, मेरा (असुः) प्राण और प्रज्ञा (आत्मा) आत्मा तथा (तन्वः) शरीर (सुमद्गुः) उत्तम आनन्द की अवस्था में विचरने वाला हो जाता है (उत वा) और, मेरा आत्मा (शक्रः) शक्तिशाली हो जाता है (रत्नं) रत्नों को (दधाति) धारण करने लगता है (यत् वा) और (ऊर्जया) बल, अन्न और रस से (सचते) युक्त हो जाता है, तथा (हविर्दाः) औरों को अन्न देने वाला बन जाता है ।

पिछले मन्त्र में कहा गया था कि प्रभु द्वारा निर्धारित सात मर्यादाओं का भंग हमें नहीं करना चाहिये । यदि हम उनका भंग करेंगे तो पाप के गढ़े में जा गिरेंगे । इस मर्यादाभंग से बचने के लिए हमें प्रभु का सहारा पकड़ना चाहिये ।

प्रस्तुत मन्त्र में उपासक कहता है कि मैंने यह बात समझ ली है । और अब मैंने मर्यादा-भंग से बचने के लिए प्रभु का सहारा पकड़ लिया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि अब मुझ

से मर्यादा-भंग नहीं होता। अब मैं मर्यादाओं का पालन करता हूँ। इसीलिए अब मैं "व्रत:"—व्रतों का, सब नियम और मर्यादाओं का, पालन करने वाला हो गया हूँ। मैं इतना अधिक नियम-पालक होगया हूँ कि अब मैं "व्रत:" अर्थात् नियमरूप ही हो गया हूँ। व्रतरूप बन जाने का परिणाम यह हुआ है कि मैं अमृतासु हो गया हूँ। मेरे प्राणों और बुद्धि में अमर शक्ति उत्पन्न हो गई है। इस शक्ति की बदौलत मैं निरन्तर कर्म करता रहता हूँ। आलसी और उद्यमहीन होकर नहीं बैठता। सदा उन्नति की ओर ले जाने वाला कोई न कोई कार्य करता रहता हूँ।

व्रतपालक, अमर प्राण और बुद्धि से युक्त तथा निरन्तर कर्म-शील जीवन वाला बन जाने का परिणाम यह हुआ है कि मेरे प्राण, शरीर और आत्मा सदा आनन्द की अवस्था में रहते हैं। आत्मा में शक्ति पैदा हो गई है। सब प्रकार के रत्न मेरे पास आ गये हैं। किसी प्रकार के ऐश्वर्य की मुझे कमी नहीं रही है। मेरे शरीर में बल है। मेरे पास खाने पीने के लिए भांति-भांति के अन्न और रसीले पदार्थ विद्यमान रहते हैं।

प्रभु की उपासना में जाकर मुझे एक लाभ और हुआ है। वह यह कि मेरे अन्दर से स्वार्थ-परता बिल्कुल निकल गई है। मैं हविर्दा हो गया हूँ। मेरे पास जो अन्न और रसीले पदार्थ रहते हैं उन्हें मैं अकेला नहीं खाता। मैं उन्हें औरों को बांट कर खाता हूँ। मैं हविर्दा होगया हूँ। मैं और विश्व के अन्य सब प्राणी प्रभु के अमर पुत्र हैं। इसलिए परस्पर भाई हैं। अब मुझे अपनी भूख

मिटाने के साथ-साथ अपने इन अन्य भाइयों की भूख मिटाने की भी चिन्ता रहती है।

उपासक कहता है, प्रभु के नीड में--आश्रय में -- जाने का यह सब परिणाम मुझे मिला है।

हे मेरे आत्मा! तू भी प्रभु की शरण में जाकर व्रतरूप बन कर ये सब मंगल प्राप्त कर ले।

हे पिता! मुझ पुत्र के लिये विश्व के रहस्य खोलदो

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे
ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन् स्वस्तये।
दर्शन् नु ता वरुण यास्ते
विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ८॥

अर्थ (पितरम्) जो हमारा पिता है (क्षत्रम्) जो सब प्रकार के घाव अर्थात् दुःखों से रक्षा करने वाला है (ज्येष्ठं) जो सब से बड़ा और सब से प्रशंसनीय है (मर्यादम्) जो मर्यादा बांधने वाला है, ऐसे उस वरणीय प्रभु की (पुत्रः) मैं उसका पुत्र (ईडे) स्तुति करता हूँ (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिये (अह्वयन्) सभी लोग उसका आह्वान करते हैं (वरुण) हे वरणीय प्रभो (याः) जो (ते) तुम्हारी (विष्ठाः) संसार में बनाई हुई विविध व्यवस्थायें हैं (ताः) उनको (नु) शीघ्र (दर्शन्) दर्शाते हुए (आवर्व्रततः) परिभ्रमण शील इस विश्व

के (वपूंषि) रूपों को, रहस्यों को (कृणवः) प्रकट कर दीजिये।

भगवान् हम सब के उत्पादक और पालक पिता हैं। हमारे सब क्षतों से, सब घावों से, सब प्रकार से दुःखों से वे हमारी रक्षा करने वाले हैं। क्षत्रिय राजा जैसे अपने राज्य के लिये क्षत्र होता है वैसे वे प्रभु सारे विश्व के क्षत्र हैं- क्षत से त्राण करने वाले हैं। वे सब से ज्येष्ठ हैं। गुणों में सब से महान् होने के कारण वे सब से बड़े और प्रशंसनीय हैं। उनकी सी गुण-प्रशंसा और किसी की नहीं हो सकती। वे मर्यादाओं को बांधने वाले हैं। ऊपर वर्णित छठे मन्त्र की सात मर्यादायें उन्हीं ने बांधी हैं। संसार की अन्य भी सभी प्रकार की मर्यादायें—सभी प्रकार की नियम व्यवस्थायें—उन्होंने ही बांध रखी हैं। जिन्हें कल्याण की अभिलाषा होती है वे सभी लोग उस भगवान् का आह्वान करते हैं—उसकी पुकार लगाते हैं। मुझे भी कल्याण की अभिलाषा है। इसलिये मैं भी अपने पिता उस प्रभु की शरण में जाकर उसका स्तवन करता हूँ। मैं उनका पुत्र हूँ। वे मेरे पिता हैं। वे मेरी बात अवश्य सुनेंगे। मन्त्र का उपासक इस श्रद्धा और विश्वास के साथ अपने प्रभु की शरण में जाता है।

मन्त्रके उत्तरार्द्ध में उपासक प्रभु से एक दान मांग रहा है। वह दान ज्ञान का दान है। वह प्रभु से मांग रहा है कि हे प्रभो! आपने इस जगत् में जितने प्रकार की विभिन्न व्यवस्थायें बना रखी हैं उन सब का रूप मुझे दिखा दीजिये, उन सब का रहस्य मुझे समझा दीजिये, और, इस परिभ्रमण और परिवर्तन शील जगत् के विभिन्न

पदार्थों के जितने रूप हैं जितने प्रकार हैं उन सबको भी मुझ पर प्रकट कर दीजिये। भगवान् इस जगत् के विभिन्न पदार्थों के और उनकी नियम-व्यवस्थाओं के रचियता हैं और सर्वज्ञ रचयिता हैं। जब उपासक सर्वज्ञ और ज्ञानस्वरूप भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर उनके गुणों की स्तुति, उनके गुणों का चिन्तन, करते करते अपने सब अवगुणों को त्याग कर प्रभु के गुणों का अपने आत्मा में वास करा के निष्कलंक और पवित्र हो जाता है तथा अपने आप को प्रभु के चरणों में पूर्ण रीति से समर्पित करके तन्मय हो जाता है तो प्रभु के साथ बनी इस तन्मयता का एक परिणाम तो यह होता है कि उपासक की अपनी बुद्धि पैनी, प्रखर, बन जाती है जिस से वह आसानी से पदार्थों के रहस्यों को समझने लगता है और दूसरा परिणाम यह होता है कि ज्ञानमय प्रभु का ज्ञान उपासक के आत्मा में संक्रान्त होने लगता है जिससे उसे पदार्थों का रहस्य स्पष्ट भासने लगता है। जैसे चुम्बक के पास पहुँचे हुए लोहे में चुम्बक के गुण संक्रान्त हो जाते हैं वैसे ही प्रभु की तन्मयता में पहुंचे हुए पूर्णरूपेण पवित्रत्मा उपासक के आत्मा में प्रभु के आनन्द और ज्ञान आदि गुण संक्रान्त हो जाया करते हैं।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उपासक द्वारा की गई विश्व के ज्ञान की प्राप्ति की प्रार्थना से यही ध्वनितार्थ निकलता है।

हे मेरे आत्मा! क्या कभी तू भी अपने असली पिता उस प्रभु के चरणों में तन्मय होकर उनसे सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बन सकेगा?

एक अर्ध को दूसरे अर्ध से जोड़ने वाला

अर्धमर्धेन पयसा पृणक्षि,
अर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर।
अविं वृधाम शग्मियं सखायम्,
वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम्।
कविशस्तान्यस्मै वपूंषि,
अवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥९॥

अर्थ—हे वरणीय प्रभो तुम (अर्धम्) वृद्धिशील मनुष्य को (अर्धेन) वृद्धि देने वाले (पयसा) पुष्टिकारक दुग्धादि प्राकृतिक पदार्थों से (पृणक्षि) युक्त करते हो (शुष्म) हे बलरूप (अमुर) हे अमर, बन्धन में न आने वाले और अज्ञान रहित तुम (अर्धेन) इस अर्ध के द्वारा (वर्धसे) वृद्धि को प्राप्त करते हो (अविं) सबके रक्षक (शग्मियम्) आनन्द से युक्त (सखायम) सब के मित्र (अदित्याः पुत्रम्) अदीनता और अखण्डनीयता के पुत्र अर्थात् अतिशय अदीन और अखण्डनीय (इषिरम्) सबको चलाने वाले, सबको चाहने वाले (वरुणम्) वरण करने योग्य और पाप से निवारण करने वाले आपको हे प्रभो (वृधाम) हम भी बढ़ाते रहें (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाले अथवा सत्यवाणी द्वारा (रोदसी) हम द्यौ और पृथिवी अर्थात् नर और नारी (अस्मै) इस आपके लिये

(कविशस्तानि) कवियों द्वारा प्रशंसित (वपूंषि) रूपों को अर्थात् स्तुतियों को (अवोचाम) कहते रहें—गाते रहें।

भगवान् की महिमा निराली है। वे एक अर्ध को दूसरे अर्ध से जोड़ देते हैं। अर्ध शब्द 'ऋधु' धातु से बनता है। ऋधु का अर्थ वृद्धि करना होता है। इसलिये अर्ध का अर्थ होता है जो बढ़े और बढ़ावे। एक 'अर्ध' मनुष्य रूप में आया हुआ हमारा आत्मा है। इसका स्वभाव वृद्धि करना है। बचपन से ही यह वृद्धि करना आरम्भ कर देता है। इसका शरीर भी बढ़ता रहता है और इसके ज्ञान की भी वृद्धि होती रहती है। इसकी उन्नति का रहस्य इसी में है कि यह सदा अपनी वृद्धि करता रहता है। दूसरा 'अर्ध' यह प्राकृतिक जगत है। यह बढ़ाने वाला है। यह शरीर धारी आत्मा को भांति भांति के भोग और ज्ञान के साधन देकर उसके शरीर और मन दोनों को ही बढ़ाता रहता है। जगत् के लिये मन्त्र में 'पयस्' शब्द का प्रयोग हुआ हैं। पयस् का अर्थ दूध, जल आदि पुष्टिकारक पेय पदार्थ होता है। यहां यह शब्द दूध, जल आदि का वाचक होता हुआ जगत् के, आत्मा को लाभ पहुँचाने वाले, सभी पदार्थों का उपलक्षण हो जाता है। एक प्रकार से सारे जगत् का ही वाचक हो जाता है। शरीरधारी आत्मा नामक अर्ध का उसे वृद्धि और पोषण देने वाले प्राकृतिक जगत नामक अर्ध के साथ वे वरणीय प्रभु ही सम्बन्ध करते हैं। यह एक दूसरे का सम्बन्ध—यह एक को एक की देन—उन प्रभु की महिमा और कृपा का ही फल है।

भगवान् का एक और निरालापन है। वह यह कि वे स्वयं भी इन अर्धों द्वारा बढ़ते हैं। एक अर्ध मनुष्य है और एक अर्ध जगत है। ये दोनों प्रभु को बढ़ाते हैं। जब सृष्टि की रचना हो जाती है और उसमें मनुष्य का निवास हो जाता है तब इस पुरुष और प्रकृति के संयोग से परमपुरुष प्रभु की भी एक प्रकार की वृद्धि होती है। मनुष्य को परमात्मा का ज्ञान उसकी बनाई हुई सृष्टि रचना को देख कर उस पर विचार करते करते ही होता है। यदि जानना चाहने वाला मनुष्य और जानने में साधन बनने वाला जगत् न होते तो परमात्मा का ज्ञान किस को कैसे होता? मनुष्य के ज्ञान का विकास धीरे-धीरे होता है। ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसके मन में परमात्मा का स्वरूप भी अधिकाधिक विशद और स्पष्ट होता जाता है। उपासक के हृदय में अपने विषयक ज्ञान की वृद्धि की दृष्टि से परमात्मा उसके हृदय में बढ़ रहे होते हैं। इस प्रकार परमात्मा भी "अर्ध" से वृद्धि प्राप्त करते हैं। परमात्मा की इस वृद्धि का साधक के हृदय में उन विषयक ज्ञान की वृद्धि से ही संबन्ध है यह मन्त्र के इसी वाक्य में प्रयुक्त परमात्मा के 'शुष्म" और "असुर" इन दो विशेषणों से स्पष्ट हो जाता है। शुष्म का अर्थ है बलस्वरूप। जो स्वयं बलस्वरूप है, जो स्वयं शक्ति का भण्डार है, उसे भला कोई अन्य पदार्थ कैसे बढ़ा सकता है? "असुर" का अर्थ है अमर और बन्धन में न आने वाला। जो स्वयं अमर है और किसी के बन्धन में नहीं आता है, जो स्वयं नित्य, अविकारी और किसी की पकड़ में नहीं आने वाला

है; उसे भी भला कोई कैसे बढ़ा सकता है। इसलिये प्रभु की यह 'अर्ध' द्वारा सम्पन्न होने वाली वृद्धि भक्त के प्रभुविषयक ज्ञान के विकास की दृष्टि से है।

मन्त्र के दूसरे, तीसरे और चौथे चरणों में प्रभु के अनेक विशेषणों का समावेश हो गया है। इससे प्रभु के अनेक गुणों और रूपों का परिज्ञान होता है। प्रभु "शुष्म" हैं—बलस्वरूप हैं। संसार के सब जड़ और चेतन पदार्थों को बल उन्हीं से प्राप्त होता है। सब को शक्ति देने वाला बल का मूल स्रोत वे प्रभु ही हैं। वे "अमुर" हैं। वे कभी मरते नहीं हैं इसलिये अमुर हैं। वे सदा अमर हैं—सदा अविनश्वर हैं। उनके स्वरूप और सत्ता में कभी विकार नहीं आता। सदा अविकारी, सदा एकरस रहते हैं। विकारवान् की ही मृत्यु हुआ करती है। भगवान् विकार से परे हैं इसलिये वे अमर हैं। यह शब्द वेष्टन अर्थवाली मुर और बन्धन अर्थवाली मुर्व् धातु से भी बनता है। उस अवस्था में अमुर का अर्थ होगा वेष्टन रहित, बन्धन रहित। भगवान् सब प्रकार के वेष्टनों से, लपेटों से और बन्धनों से रहित हैं इसलिये भी अमुर हैं। अमुर का अर्थ अमूढ अर्थात् अज्ञानरहित भी होता है। भगवान् सब प्रकार के अज्ञान से अलग हैं इसलिये भी अमुर हैं। वे "अवि" हैं—सब के रक्षक हैं। हम सब को वास्तविक रक्षा उन्हीं से प्राप्त होती हैं। वे "शग्मिय" हैं। शग्म सुख को कहते हैं। वे सुख से, आनन्द से युक्त रहते हैं इसलिए शग्मिय हैं वे आनन्द-स्वरूप हैं, सदा रस से तृप्त रहते

हैं। उनमें आनन्द की पराकाष्ठा हो गई है। वे "सखा" हैं—सबके मित्र हैं। उन जैसा हमारा कोई और मित्र नहीं है। वे सदा हमसे स्नेह रखते हैं। उनके दण्ड में भी हमारे लिए प्रेम भरा होता है। वे "अदिति के पुत्र" हैं। अदिति का अर्थ होता है अदीनता और अखण्डनीयता की अवस्था। पुत्र शब्द वेद में बाहुल्य के लिए, अतिशय के लिए, भी प्रयुक्त हुआ करता है। इसलिए अदिति के पुत्र का अर्थ होगा जिसमें अतिशय-रूप में अदीनता और अखण्डनीयता रहती है। भगवान् पूर्णरूप से अदीन और अखण्डनीय हैं इसलिए वे "अदिति के पुत्र" हैं। वे "इषिर" हैं। वे सबको चाहने वाले हैं, सबके कल्याण की इच्छा रखते हैं, अथवा सबके चाहने योग्य हैं इसलिए इषिर हैं। वे सबको गति देने वाले हैं इसलिए भी वे इषिर हैं। गति का मूल-स्रोत वे प्रभु ही हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति के परमाणुओं को उन्हीं ने गति प्रदान की थी जिसका फलस्वरूप यह जगत् बन और चल रहा है। वे भगवान् "वरुण" हैं। सबके वरण करने योग्य और सबको बचाने वाले हैं। उनका-सा वरणीय, चाहने योग्य, और कोई नहीं है। उनको वरण करने के अनन्तर ही मनुष्य को सब वरदान प्राप्त हो सकते हैं।

मन्त्र के अन्तिम दो चरणों में उपासक अपने उद्गार प्रकट करता है कि ऐसे गुणों वाले भगवान् की हम सब नर-नारियों को सदा स्तुति करनी चाहिए, सदा उसके गुणों का स्मरण, कीर्तन और चिन्तन करना चाहिए। मन्त्र में नर-नारियों के लिए "रोदसी" शब्द का प्रयोग हुआ है। रोदसी

का अर्थ द्यौ और पृथिवी हुआ करता है। और जैसा हम पीछे एक मन्त्र की व्याख्या में दिखा चुके हैं द्यौ और पृथिवी का अर्थ नर और नारी हो जाया करता है। मन्त्र में आया रोदसी का विशेषण "सत्यवाचा" नर और नारी अर्थ में ही संगत हो सकता है। द्यौ और पृथिवी अर्थ में नहीं। इसीलिये यहां रोदसी का अर्थ नर और नारी किया गया है। हम सब नर-नारियों को भगवान् के लिये कवियों द्वारा प्रशंसित स्तुतियें कहनी चाहियें। जिस प्रकार की स्तुति कवि अर्थात् गहरे ज्ञानी लोग भगवान् की किया करते हैं वैसी स्तुति हमें करनी चाहिये। इस कथन का यह भी भाव हो सकता है कि उत्तम कवि जिनकी प्रशंसा करें ऐसी कविताओं और भजनों के द्वारा प्रेम में भर कर हमें भगवान् को स्तुति और उपासना करनी चाहिए।

मन्त्र के "सत्यवाचा" पद की योजना दो प्रकार से हो सकती है। एक तो इसे द्विवचन का रूप मान कर रोदसी का विशेषण माना जा सकता है। तब इसका अर्थ होगा सत्य वाणी वाले नर और नारी। दूसरे, इसे तृतीया विभक्ति के एक वचन का रूप माना जा सकता है। तब इसका भाव यह होगा कि सत्यवाणी के द्वारा नर-नारियों को प्रभु की स्तुति करनी चाहिये। दोनों योजनाओं का तात्पर्य एक ही है। केवल कहने के प्रकार में भेद है। तात्पर्य यह है कि नर-नारियों को सच्ची वाणी से प्रभु की स्तुति और उपासना करनी चाहिये। ऊपर-ऊपर से स्तुति वचनों का पाठ नहीं कर दिया जाना चाहिये। वे वचन हृदय की तह से निकले

होने चाहियें। उन वचनों के अनुसार हमारा आचरण भी होना चाहिये। तभी हमारी भक्ति फलवती होगी।

हे मेरे आत्मा! तू भी अनेक गुणागार उस वरणीय प्रभु के गुणों को गाने वाला और सच्चे हृदय से गाने वाला बन कर क्या कभी भक्तिरस में डूब जाने की अवस्था में पहुँचेगा?

त्रयोदश सूक्त

(अथर्व० ५।११)

पृश्नि की दक्षिणा

कथं महे असुरायाब्रवीरिह,
कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः ।

पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान्,
पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

अर्थ—(त्वेषनृम्णः) ज्ञान-प्रकाशरूप ऐश्वर्य वाले तुमने हे प्रभो (महे) महान् पूजनीय (असुराय) जीवन दान करने वाले (पित्रे) पिता की तरह रक्षा करने वाले (हरये) अज्ञानादि दुःख का हरण करने वाले ऋषियों को (कथं—कथं) किस अवर्णनीय विधि से (अब्रवीः) उपदेश दिया (पुनर्मघ) बार बार ऐश्वर्य दान देने वाले (वरुण) हे वरणीय प्रभो (दक्षिणां) वृद्धि देने वाली (पृश्निं) वेद-विद्या को (ददावान्)

देते हुए (त्वं) तुमने (मनसा) मन से (अचिकित्सीः) चिकित्सा कर दी है।

भगावन् वरुण हैं, वरणीय हैं। उन्हें हमें स्वीकार करना चाहिये पहिचानना चाहिये। क्योंकि उनका वरण कर लेने से हमें अनेक प्रकार के मङ्गल प्राप्त होंगे। भगवान् से हमें मिलने वाले मङ्गलों की सीमा नहीं है। वे असंख्य हैं। भगवान् की ओर से हमें हमारे मानसिक जीवन और शारीरिक जीवन दोनों के लिये हितकारी मंगल प्राप्त होते हैं। भगघान् द्वारा हमारा मानसिक मंगल करने के लिये देखिये हमें "पृश्नि" दक्षिणा रूप में दी गई है। दक्षिणा वही दे सकता है जिसके पास देने को कुछ धन हो। भगवान् के पास देने को धन है। भगवान् त्वेषनृम्ण हैं। उनके पास त्वेष अर्थात् प्रकाश का धन है। भगवान् अनन्त ज्ञान के भंडार हैं। यही ज्ञान-प्रकाश उनका नृम्ण है, ऐश्वर्य्य है। अपने इस ज्ञान-प्रकाश रूप ऐश्वर्य को ही भगवान् पृश्नि अर्थात् वेदवाणी के रूप में हमें दक्षिणा बना कर देते हैं। पृश्नि का शब्दार्थ 'स्पर्श करने वाला' ऐसा होता है। वेदवाणी क्योंकि मनुष्य के लिये उपयोगी भांति-भांति की विद्याओं का स्पर्श करती है अर्थात् उन्हें अपने भीतर रखती है इसीलिये उसे यहां पृश्नि कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में अनेक जगह पृश्नि को वशा भी कहा गया है। और वशा का अर्थ निघण्टु में स्पष्ट ही वाणी किया गया है। और वाणी शब्द वेद के "यथेमां वाचं कल्याणीं" आदि अनेक स्थलों में वेदवाणी के लिये व्यवहृत हुआ है। इस आधार पर तथा प्रस्तुत सूक्त के वर्णन के आधार पर हमने यहां

पृश्नि का अर्थ वेदवाणी किया है। यह वेदवाणी भगवान् ने हमें दक्षिणा बना कर दी है। दक्षिणा शब्द 'दक्ष वृद्धौ' धातु से बनता है। अतः दक्षिणा वह हुई जो हमारी वृद्धि करे। वेदवाणी दक्षिणा है। यदि हम वेद को समझ लें और उसके अनुसार आचरण करने लग जायें तो उससे निश्चय ही हमारी वृद्धि होगी—हमारी उन्नति होगी। सामान्य दक्षिणा को भी दक्षिणा इसीलिये कहा जाता है कि हमने किसी का कोई कार्य किया, उससे हमारे अन्दर क्षति आई, यजमान ने उस क्षति को दक्षिणा देकर पूरा कर दिया। भगवान् एक-आध वार ही यह दक्षिणा देकर नहीं रह जाते। वे तो पुनर्मघ हैं। वार-वार अपना मघ अर्थात् यह वेद-ज्ञान रूप अपना धन हमें देते हैं। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में भगवान् इस ज्ञान की हमें पुनः पुनः दक्षिणा देते हैं और सृष्टि के बीच में भी योगियों और महात्माओं को वेद में वर्णित की गई सचाइयों का प्रकारान्तर से प्रकाश देते रहते हैं। उन्हें प्रभु से सत्य-बोध मिलता रहता है।

सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने यह वेद-ज्ञान की दक्षिणा उस समय के ऋषियों को उपदेश द्वारा दी थी। इस ज्ञान को सीख कर वे ऋषि पीछे आने वाले लोगों के लिये 'मह' अर्थात् महान् और पूजनीय हो गये। 'असुर' अर्थात् वेदोपदेश द्वारा उन्हें जीवन दान देने वाले बन गये। 'हरि' अर्थात् उनके अज्ञानादि कष्टों को हरने वाले हो गये। और, इसीलिये 'पिता' अर्थात् पिता की भांति पालन करने वाले बन गये। प्रभु सृष्टि के आरम्भ में यह वेद-ज्ञान का उपदेश कैसे देते हैं यह साधारण व्यक्ति के लिये समझना

ज़रा कठिन हो जाता है। परन्तु थोड़ा गम्भीर विचार करने पर उसे यह बात भी समझ में आ जाती है। मन की इसी अवस्था को सूचित करने के लिये मन्त्र में यह प्रश्न पूछा गया है कि "कथं अब्रवी:"—हे प्रभो, आपने यह उपदेश किस विधि से दिया। उपासक के मन में यह प्रश्न उत्पन्न करके ही छोड़ दिया गया है। उत्तर नहीं दिया गया है। जिसका भाव यह है कि तुम सोचो, मनन करो, स्वयं तुम्हें इसका उत्तर मिल जायेगा। यों वेद में अन्यत्र, यथा ऋग्० १०।७१।१ में, इस प्रश्न के समाधान का संकेत भी कर दिया गया है। मन्त्र में 'कथं'—कैसे—पद दो बार पढ़ा गया है। एक 'कैसे' तो प्रश्न का सूचक है और दूसरा 'कैसे' आश्चर्य का द्योतक है कि कैसे उपदेश कर दिया!

उन वरणीय भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ के "महान्" ऋषियों को यह वेद-ज्ञान की दक्षिणा देकर और इस प्रकार इसके प्रचार की परम्परा बांध कर, पीछे आने वाले सभी मनुष्यों की मन से चिकित्सा कर दी है। जो व्यक्ति भगवान् द्वारा मन से अर्थात् हित-बुद्धि से की गई इस चिकित्सा का मन से अर्थात् पूर्ण रीति से सेवन करेगा उसके पास किसी प्रकार के रोग फटक नहीं सकते।

यद्यपि इस मन्त्र में "पृश्नि" का मुख्य अर्थ वेदवाणी ही करना चाहिये तो भी अभिधामूलक व्यञ्जना से यह शब्द एक और भाव को भी सुझा जाता है। पृश्नि का अर्थ वेद में पृथिवी और द्युलोक भी होता है। दूसरे शब्दों में पृश्नि का अर्थ सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् भी होता है। इसलिये मन्त्र के इस शब्द का यह भाव

भी निकलेगा कि प्रभु ने वेद-ज्ञान की दक्षिणा देने के साथ-साथ यह सारा प्राकृतिक जगत् भी हमें भाँति-भाँति के उपभोग प्राप्त करने के लिये दक्षिणा बना कर दिया है। और ये प्राकृतिक उपभोग भी वे "पुनर्मघ" भगवान् हमें बार-बार देते रहते हैं। उस वरणीय भगवान् की मंगल-वृष्टि का कोई अन्त नहीं है।

हे मेरे आत्मा! प्रभु ने पृश्नि की दक्षिणा देकर जो तुम्हारी मन से चिकित्सा की है तुम उसका मनोयोगपूर्वक सदुपयोग करो। फिर तुम्हारे पास शारीरिक, मानसिक और आत्मिक किसी प्रकार का कोई रोग नहीं फटक सकेगा।

—:❀:—

पृश्नि का द्रष्टा

न कामेन पुनर्मघो भवामि,
सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे।
केन नु त्वमथर्वन् काव्येन,
केन जातेनासि जातवेदाः ॥२॥

अर्थ—(एतां) इस (पृश्नं) वेदविद्या को (कं) सुख शान्ति के लिये (उपाजे) प्राप्त हो रहा हूँ, और (संचक्षे) इसे भली-भांति देख रहा हूं—समझ रहा हूँ, इसलिये (न) अब (कामेन) इच्छानुसार (पुनर्मघः) औरों को बार बार दान देने वाला (भवामि) मैं भी हो गया हूँ। (अथर्वन्) हे निश्चल

स्वभाव स्थित-प्रज्ञ भगवन् (त्वं) तुम (केन-केन) किस अवर्णनीय (जातेन) तुम से उत्पन्न (काव्येन) काव्य द्वारा (नु) निश्चय से (जतवेदाः) जातवेदा (असि) कहलाते हो।

भगवान् ने व्यक्ति और समाज के सब प्रकार के रोगों की चिकित्सा करने के लिये जो वेद-विद्या का उपदेश प्रारम्भिक ऋषियों को दिया था उसे देख कर उपासक प्रथम मन्त्र में आश्चर्यमय प्रश्न कर रहा था कि यह वेद का उपदेश प्रभु ने किस विधि से कर दिया! इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में उपासक वेद का अध्ययन करने से, उसकी अपनी जो अवस्था हो गई है उसका वर्णन कर रहा है। वह कह रहा है कि मैंने भी इस पृश्नि को प्राप्त कर लिया है। केवल प्राप्त ही नहीं कर लिया है प्रत्युत उसका अच्छी प्रकार दर्शन कर लिया है—उसे खूब समझ लिया है। और इसका परिणाम यह हुआ है कि इसकी शिक्षाओं के अनुसार आचरण करने से मुझे 'कं' अर्थात् सुख शान्ति की प्राप्ति हो गई है, और मैं इच्छानुसार पुनर्मघ हो गया हूँ। मुझे जिस-जिस प्रकार के मघ अर्थात् ऐश्वर्य की इच्छा होती है उसी प्रकार का मघ मुझे प्राप्त हो जाता है। और यह मघ मुझे इतनी मात्रा में प्राप्त हो जाता है कि मैं पुनर्मघ बन जाता हूं। मुझे प्राप्त हुए अपने उस मघ को मैं बार-बार औरों को वितरण करता हूं। भगवान् ने मुझे जिस प्रकार पृश्नि की दक्षिणा दी है उसी प्रकार मैं भी इस पृश्नि की और इसकी कृपा से प्राप्त होने वाले अन्य प्रकार के ऐश्वर्यों की दक्षिणा अपने आस-पास के लोगों को देता रहता हूं।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में फिर भगवान् को ही सम्बोधन किया गया है। वेद में भगवान् का एक नाम जातवेदाः ऐसा आता है। प्रस्तुत मन्त्रार्द्ध में उपासक भगवान् से उनके इसी नाम का हेतु पूछ रहा है। वह पूछ रहा है हे भगवान् तुम किस काव्य को उत्पन्न करने के कारण जातवेदा कहलाते हो। भगवान् को यहां अथर्वा सम्बोधन से पुकारा गया है। यह शब्द थर्व धातु से, जिसका अर्थ गति और संशय करना होता है, बना है। जो थर्वा न हो वह अथर्वा कहलायेगा। भगवान् अथर्वा है। उनमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। संशय अपूर्ण ज्ञानी को हुआ करता है। वरुण भगवान् पूर्ण ज्ञानी हैं इसलिये उनमें संशय नहीं हो सकता। वे संशय रहित पूर्ण ज्ञानी अथर्वा हैं। भगवान् इसलिये भी अथर्वा हैं कि उनके ज्ञान में, उनके गुण, कर्म और स्वभाव में किसी प्रकार की गति, किसी प्रकार का परिवर्तन, किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं आती। वे सदा एक-रस ज्ञान वाले, पूर्णज्ञानी, स्थितप्रज्ञ अथर्वा हैं। ऐसे संशयरहित, स्थितप्रज्ञ भगवान् से पूछा जा रहा है कि हे महाराज, आप किस काव्य की उत्पत्ति के कारण जातवेदा कहलाते हो? मन्त्र में 'किस' पद दो वार पढ़ा गया है। एक 'किस' प्रश्न का सूचक है और दूसरा 'किस' काव्य की महिमा का द्योतक है कि अहो कैसा काव्य है! कितना अद्भुत कव्य है!

हे मेरे आत्मा! तू भी प्रभु द्वारा की गई पृश्नि का, वेद-विद्या का, द्रष्टा बनजा—उसका साक्षात्कार करने वाला बन जा। फिर तू पुनर्मघ हो जायेगा। तेरे पास ऐश्वर्य की कमी नहीं

रहेगी और तू उस ऐश्वर्य की, औरों के कल्याण के लिये, पुनः पुनः दक्षिणा देने वाला बन जायेगा।

जातवेदा

सत्यमहं गभीरः काव्येन,
सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।
न मे दासो नार्यो महित्वा,
व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ॥३॥

अर्थ—हे उपासक (सत्यं) सत्य ही (अहं) मैं (गभीरः) गम्भीर हूँ, स्थितप्रज्ञ हूँ, अथर्वा हूँ (सत्यं) सत्य ही (जातेन) मुझ से उत्पन्न हुए (काव्येन) काव्य द्वारा (जातवेदाः) मैं जातवेदा (अस्मि) हूँ (अहं) मैं (यद्) जिसे (धरिष्ये) धारण करता हूँ—चलाता हूँ—उस (मे) मेरे (व्रतं) नियम को (न) न तो (दासः) दास और (न) न ही (आर्यः) आर्य (महित्वा) अपने महत्व से (मीमाय) तोड़ सकता है।

प्रथम दो मन्त्रों में उपासक बोल रहा था। उसने द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्द्ध में जो प्रश्न भगवान से पूछा था उसके उत्तर में प्रस्तुत मन्त्र में भगवान् बोल रहे हैं। सबसे पहले भगवान् उपासक से कहते हैं कि हे भक्त! तुमने पूर्व मन्त्र में जो मुझे अथर्वा कहा है, सचमुच ही मैं अथर्वा हूँ। इस मन्त्र में भगवान् ने अथर्वा पद के स्थान में उसी अर्थ का द्योतक 'गभीरः' पद पढ़ा

है। जो शान्त हो, जिसमें किसी तरह की चञ्चलता और विकार न उठता हो और जिसके गुणों की थाह, सीमा, न पाई जा सके, उसके लिये गभीर शब्द का प्रयोग हुआ करता है। इस प्रकार अथर्वा और गभीर दोनों पदों का भाव एक ही है। भगवान् कहते हैं कि मैं असीम, अथाह ज्ञान से युक्त पूर्ण ज्ञानी, स्थितप्रज्ञ, अथर्वा हूँ और क्योंकि मैंने काव्य को उत्पन्न किया है, उसका उपदेश दिया है, इस लिये मेरा नाम जातवेदाः है। यहां काव्य पद वेद के लिये प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि भगावान् से काव्य 'जात' अर्थात् उत्पन्न हुआ है इसलिये उनका नाम 'जातवेदाः' है मन्त्र में इस प्रकार का युक्तिक्रम रखा गया है। इस से स्पष्ट है कि यहां वेद को ही काव्य कहा गया है। यदि काव्य वेद से कोई भिन्न वस्तु होती तो उसके उत्पादक को 'जातवेदाः' न कह कर 'जात-काव्य' ऐसा कहा जाना चाहिए था।

वेद को इन मन्त्रों में काव्य नाम से जो कहा गया है उस का भी पूर्ण अभिप्राय समझ लेना चाहिए। काव्य कहते हैं कवि के कर्म को, कवि की रचना को। प्रभु कवि हैं ऐसा स्थान-स्थान पर कहा गया है। फिर, निरुक्त में कवि का अर्थ किया गया है— "कान्तदर्शनः" अर्थात् जो प्रत्येक वस्तु को उसके सब आवरणों को फाड़ कर उसके हृदय में घुस कर देख सकता हो, उसका पूर्ण ज्ञान रखता हो। वेद 'कवि' प्रभु का कर्म है, उनकी रचना है; इस लिए वह काव्य है। अर्थात् वेद भी भांति-भांति का मनुष्योपयोगी पूर्ण और गहरा ज्ञान देता है। कवि का अर्थ कविता करने वाला भी होता है और इसीलिये काव्य का अर्थ कविता भी होता है।

'कवि' भगवान् के कर्म वेद की रचना भी कविता में ही है। इस-लिये भी वेद काव्य है। इस दूसरे अर्थ में वेद को काव्य कहने से एक विशेष ध्वनि भी निकलती है। वह यह कि वेद-काव्य को वही व्यक्ति अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा जिसमें कवि की प्रतिभा और कल्पना शक्ति होगी। प्रतिभा 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि' को कहते हैं—उस बुद्धि को कहते हैं जिसमें नई-नई बातें फुरती हैं। कल्पना उस बुद्धि को कहते हैं जसमें यह सामर्थ्य होती है कि वह किसी भी वस्तु का पूर्ण चित्र मन की आंखों के सामने लाकर खड़ा कर दे। जिसमें कवि की ये दोनों शक्तियें होंगी – जिसकी बुद्धि को वेद के अक्षरों में से नई-नई बातें फुरती होंगी और जो अपने मन में उन बातों का पूरा चित्र खींच सकता होगा— वही कवि या कवि-तुल्य व्यक्ति वेद का मर्म अच्छी तरह समझ सकेगा। केवल व्याकरण और मीमांसा घोट कर बैठ जाने वाले प्रतिभाशून्य 'जरद्वैयाकारण' और 'जरन्मीमांसक' लोगों को वेद के मर्म भली भांति समझ में नहीं आ सकते। इन शास्त्रों के ज्ञान के साथ प्रबल प्रतिभा का होना भी आवश्यक है।

इस प्रकार का वेद-काव्य अथर्वा और गभीर कहे जाने वाले पूर्ण ज्ञानी भगवान् ही उत्पन्न कर सकते हैं। इसीलिये मन्त्र में भगवान् ने कहा है कि मैं सचमुच ही अथर्वा हूँ और मुझ अथर्वा से वेद-काव्य उत्पन्न होने के कारण मेरा नाम जातवेदा है।

आगे भगवान् कहते हैं कि व्यक्ति और समाज के लिए तथा प्राकृतिक जगत् के लिए जो व्रत, जो नियम, मैंने बनाये हैं, जिनका उपदेश वेद में किया गया है, उन्हें आर्य और दास कोई

भी नहीं तोड़ सकता। जो तोड़ेगा वह दुःखी होगा। इन नियमों के पालन से ही पुरुष सुखी हो सकता है। जो सुख चाहता है वह इन व्रतों का भंग नहीं कर सकता। आर्य ज्ञान का जीवन बिताने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को कहते हैं तथा दास अज्ञान का जीवन बिताने वाले शूद्र को कहते हैं। चाहे कोई ज्ञानी हो और चाहे अज्ञानी, और, चाहे किसी ने सांसारिक दृष्टि से कितना ही बड़ा महत्व भी क्यों न प्राप्त कर लिया हो, वरुण भगवान् के व्रतों का भंग करके सुखी नहीं रह सकता।

हे मेरे आत्मा! उस क्रान्तदर्शी प्रभु के नियमों का भंग करके कोई भी सुखी नहीं रह सकता। प्रभु के नियमों का भंग किसी की भी परवाह नहीं करता है। चाहे वह बड़ा पण्डित हो और चाहे अपण्डित, चाहे किसी ऊंचे पद पर अधिष्ठित हो और चाहे निम्न श्रेणी का हो, जो भी उसके नियमों का भंग करेगा उसे कष्ट भोगना होगा। इस तत्त्व को समझ कर तू उस जातवेदा के काव्य वेद में प्रतिपादित व्रतों पर, नियमों पर, सीधी गति से चलता जा। इसी में तेरा कल्याण है।

विश्व भुवनों का वेत्ता

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया,
धीरतरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ,
स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥४॥

अर्थ—(स्वधावन्) अपनी शक्ति से स्वयं स्थित (वरुण) सब के वरणीय हे भगवन् (त्वत्) तुम से (अन्यः) भिन्न कोई (कवितरः) तुम से बढ़ कर कवि और क्रान्तदर्शी ज्ञानी (न) नहीं है (मेधया) बुद्धि के द्वारा (धीरतरः) तुम से अधिक बुद्धिमान् कोई (न) नहीं है (त्वं) तुम (ता) उन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (वेत्थ) जानते हो (स) वह (मायी) मायावी (जनः) जन (चित्) भी (त्वत्) तुम से (नु) अवश्य (विभाय) डरता है।

गत मन्त्र में भगवान् ने कहा था कि मैं जिन नियमों को चलाता हूँ उन्हें कोई भी, चाहे वह कितना ही महिमाशाली क्यों न बन जाये, तोड़ नहीं सकता। भगवान् के इस कथन को सुन कर उपासक उस पर गम्भीरता से विचार करता है और भगवान् के स्वर में स्वर मिला कर कहता है कि हे भगवन् आप ठीक कहते हो, आपके नियमों को कोई नहीं तोड़ सकता। इन्हें तोड़ कर कोई भी सुखी नहीं रह सकता। आप से बढ़ कर कोई कवि नहीं है। आपका सा कवित्व, आपका सा प्रत्येक वस्तु का गहरा और सर्वांग पूर्ण ज्ञान किसी में नहीं है। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को भली-भांति समझने वाली आपकी सी प्रखर बुद्धि भी किसी में नहीं है। अपने इस कवित्व और अपनी इस मेधा के कारण आप इन दिखाई देने वाले और इन से भी परे के दिखाई न देने वाले उन सब लोकों को भली भांति जानते हो। मन्त्र में सब लोकों के साथ 'उन' इस बहु वचनान्त सर्वनाम पद का प्रयोग हुआ है। 'उन' इस सर्वनाम पद का प्रयोग दूर की वस्तुओं के लिये हुआ करता है।

मन्त्र में सब लोकों के साथ 'उन' इस सर्वनाम के लगाने की ध्वनि यह है कि समीप के अर्थात् दिखाई देने वाले लोक तो अपेक्षाकृत बहुत थोड़े हैं, दूर के अर्थात् दिखाई न देने वाले लोक इनकी अपेक्षा बहुत अधिक हैं। हमें दिखाई देने वाले लोक कितने ही अधिक, संख्यातीत दीखने वाले भी क्यों न हो हमें दिखाई न देने वाले लोकों की तुलना में इनकी संख्या कुछ भी नहीं है। विश्वब्रह्माण्ड अनन्त है। इस अनन्त विश्व में हमें जो कुछ दिखाई दे रहा है वह विश्व के न दिखाई देने वाले भाग की तुलना में सदा ही बहुत थोड़ा—नहीं के बराबरर—हेगा।

सब विश्व को पूर्ण रीति से जानने वाला कवि और मेधावी भगवान् जो नियम बनायेगा उनमें किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं रह सकती। ऐसे परिपूर्ण नियमों को तोड़ने का साहस भला कौन कर सकता है। यदि कोई भूल से इनका भंग करने का साहस कर बैठेगा तो उसे इसके प्रतिफल में बुरी तरह कष्ट भोगना पड़ेगा। प्रभु के नियम तो जीवन के नियम हैं उनका भंग करने वाले का जीवन अपूर्ण हो जायेगा और इसीलिये उसे कष्ट भोगना पड़ेगा। अपूर्ण जीवन का फल तो कष्ट होगा ही।

इसीलिये जो मायावी जन हैं वे भी प्रभु के संचालित नियमों का भंग करने में भय खाते हैं। माया का अर्थ कर्म और बुद्धि होता है। जो लोग अपनी बुद्धि के कौशल से ऐसे विचित्र कर्म करते हैं कि देखने वाले उनके धोखे में आजायें उन्हें मायी या मायावी कहते हैं। संसार के सामान्य लोगों को तो कोई मायावी भले ही धोखे में डाल ले परन्तु विश्व के व्रतपति, विश्व के

नियन्ता, वरुण भगवान् को कोई मायावी से मायावी भी धोखे में नहीं डाल सकता। कोई यह चाहे कि वह भगवान् से आंख बचा कर उनके व्रतों का, उनके नियमों का भंग कर लेगा और फिर भी सुखी रह जायेगा यह उसकी असीम भ्रान्त धारणा है। प्रभु के नियम भंग करने से मयावी से मायावी व्यक्ति के मुंह पर भी करारी चपत लगेगी और उसे प्रभु की शक्ति से डरना पड़ेगा।

समाज और व्यक्ति के लिये तथा प्राकृतिक विश्व के लिये प्रभु ने जो भांति-भांति के नियम बना कर रखे हैं और उन नियमों का भंग करने वालों को जो झट प्रतिफल मिल जाता है यह सब विराट् कार्य भगवान् बिना किसी की सहायता से स्वयं अकेले ही कर लेते हैं। वे तो स्वधावान् हैं—अपनी शक्ति से, अपनी महिमा से, स्वयं स्थित हैं। वे सारे कार्य अपनी स्वधा से, अपनी आत्मशक्ति से, करते हैं। उन्हें अपने और अपने कार्यों के लिये किसी अन्य की शक्ति की अपेक्षा नहीं है।

हे मेरे आत्मा! उस कवियों के कवि, मेधावियों के मेधावी, स्वाधावान् प्रभु के नियमों का भंग तू कभी मत करना। नहीं तो तेरा कल्याण नहीं है

—:※:—

इस लोक से परे भी कुछ है ?

त्वं ह्यङ्ग वरुण स्वधावन्,
विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।
किं रजस एना परो अन्यदस्ति,
एना किं परेणावरममुर ॥५॥

अर्थ—(स्वधावन्) स्वकीय सामर्थ्य से स्थित (सुप्रणीते) उत्तम रीति से संचालन करने वाले (अंग) हे (वरुण) वरणीय भगवन् (त्वं) तुम (विश्वा) सब (जनिमा) जन्मों को अर्थात प्रत्येक वस्तु के कारण को (वेत्थ) जानते हो (असुर) हे ज्ञानी (एना) इस दिखाई देने वाले (रजसः) लोक से (परः) परे (अन्यत्) और (किं) क्या (अस्ति) है (एना) इस (परेण) परले से (अवरं) इधर (किम्) क्या है ?

पूर्व मन्त्र में उपासक भगवान् से कह रहा था कि हे भगवन्, आप से बढ़ कर कवि, ज्ञानी और बुद्धिमान् कोई भी नहीं है; आप सब लोक लोकान्तरों को जानते हो। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के इस ज्ञानगुण का और भी प्रकर्ष दिखाया गया है। उपासक कह रहा है कि हे भगवन्, आप लोक-लोकान्तरों को केवल जानते ही नहीं हो, आप उनके 'सुप्रणीति' भी हो। सुप्रणीति का अर्थ होता है उत्तम रीति से चलाने वाला। ये जो सूर्य, पृथिवी, चन्द्र आदि असंख्य नक्षत्र और ग्रहोपग्रह असीम आकाश में गणित शास्त्र द्वारा जानी जा सकने योग्य पूर्ण नियमित रीति से चल रहे हैं यह

सब उसी भगवान् की महिमा का फल है। ये सब अपने मार्गों में कल्पनातीत वेग से दौड़ रहे हैं पर फिर भी ये पथ-भ्रष्ट होकर एक दूसरे के साथ टकरा कर जो नष्ट नहीं हो जाते हैं वह इसीलिये है कि सुप्रणीति भगवान् अपनी सदा जागरूक मेधा द्वारा इनका संचालन कर रहे हैं। लोक का अर्थ मनुष्यादि प्राणी भी होता है। भगवान् केवल पृथिवी आदि लोकों का संचालन ही अपनी नियम व्यवस्था से नहीं कर रहे हैं, वे मनुष्यादि प्राणियों के जीवन को भी अपनी अगाध ज्ञानमयी मेधा द्वारा चला रहे हैं। भिन्न-भिन्न प्राणियों के खाने की वस्तुयें किस प्रकार वैज्ञानिक नियम व्यवस्था के अधीन उत्पन्न हो रही हैं, फिर ये वस्तुयें खाई जाकर प्राणियों के शरीरों में किस प्रकार नियमित रीति से पच कर रक्त, मांस, हड्डी, वीर्य आदि बनती हैं, फिर किस प्रकार नर और नारी प्राणी मिल कर भोजन द्वारा बने रज और वीर्य से अपनी सन्तानें बनाने में समर्थ होते हैं, और फिर एक-एक प्राणी के शरीर में आंख,नाक, हृदय, फेफड़े,मस्तक आदि अंग-प्रत्यंग किस प्रकार व्यवस्थित कार्य कर रहे हैं, जब हम प्राणि-जगत् में दिखाई देने वाली इस प्रकार की असंख्य बातों को देखते हैं तो हमें मालूम पड़ता है कि स्थावर-जंगम प्राणियों के जीवन का संचालन तो असल में अपनी नियम व्यवस्था के द्वारा प्रभु ही कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त कर्मफल प्रदान के रूप में भी वे भगवान् प्राणियों के जीवन का संचालन कर रहे हैं। सृष्टिचक्र का यह अद्भुत संचालन भगवान् के ज्ञान-गुण के उत्कर्ष को ही बता रहा है। साथ ही सुप्रणीति शब्द की यह ध्वनि भी है कि यदि हम भगवान् का सहारा ले लें,

अपने आपको पूर्ण रीति से भगवान् के अर्पित कर दें तो भगवान् हमारे लिये सुप्रणीति हो जायेंगे, हमें उत्तम रीति से चलाने वाले, हमें सही मार्ग दिखाने वाले बन जायेंगे। वेदोपदेश द्वारा तो प्रभु हमारे लिये सुप्रणीति हो ही चुके हैं, यदि हम अपने आपको पूर्ण रूप से उनके अर्पण कर दें तो वे अपनी प्रेरणाओं द्वारा पुनः भी हमारे लिये सुप्रणीति—सुमार्गदर्शक—हो सकते हैं।

भगवान् के ज्ञान-गुण के प्रकर्ष को ही दिखाने के लये उपासक मन्त्र में प्रभु से कह रहा है कि हे महाराज, आप 'सब जन्मों अर्थात् प्रत्येक वस्तु के कारण को जानते हो।' पूर्व मन्त्रमें जो यह कहा था कि प्रभु सब लोकों को जानते हैं उसका इतना ही भाव नहीं है कि वे ऊपर-ऊपर से—स्थूल रूप से—ही सब पदार्थों को जानते हैं। नहीं. वे तो प्रत्येक वस्तु के जन्म को, उसके पूर्ण कारण को, जानते हैं। किसी पदार्थ को उस पदार्थ का रूप देने वाली जितनी भी वस्तुयें और अवस्थायें हैं; वे महाप्रभु उन सबको पूर्ण रीति से जानते हैं। भगवान् का प्रत्येक वस्तु का ज्ञान बड़ा गहरा है।

भगवान् के ज्ञान-गुण के उत्कर्ष को इस प्रकार दिखा कर उपासक मन्त्र के उत्तरार्द्ध में प्रभु से एक बहुत गम्भीर प्रश्न पूछता है। वह पूछता है कि हे प्रभु, इस दिखाई देने वाले जगत् से परे और कोई मनुष्य की बुद्धि से परे की वस्तु है या नहीं? और स्थूल दृश्य जगत् तथा मनुष्य की बुद्धि से अतीत परम सूक्ष्म तत्त्व के बीच में भी कोई वस्तु है या नहीं है? ऐसे गम्भीर

प्रश्न का उत्तर देने वाला भला पूर्ण ज्ञानी भगवान् से बढ़ कर और कौन होगा? इसीलिये उपासक प्रभु के ज्ञान-गुण का उत्कर्ष दिखाने के पश्चात् उनसे यह प्रश्न पूछता है। भगवान् इसका जो उत्तर देते हैं वह आगामी मन्त्र में वर्णित है।

हे मेरे आत्मा! तुम भी नित्य-प्रति प्रभु की शरण में जाकर उनसे ज्ञान की भिक्षा मांगा करो और इस प्रकार उनकी संगति से नित्य नये तत्त्व प्राप्त किया करो।

हां, इस लोक से परे भी कुछ है

एकं रजस एना परो अन्यदस्ति,
एना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक्।
तत्ते विद्वान् वरुण प्रब्रवीमि,
अधोवचसः पणयो भवन्तु,
नीचैर्दासा उपसर्पन्तु भूमिम् ॥६॥

अर्थ—हे उपासक (एना) इस दिखाई देने वाले (रजसः) जगत् से (परः) परे (अन्यत्) अन्य (एकं) एक—अद्वितीय ईश्वर (अस्ति) है (एना) इ (परः) परले (एकेन) एक, अद्वितीय ईश्वर से (अर्वाक्) इधर (दुर्णशं) जिसकी सत्ता हमसे कभी नहीं छिपती ऐसा (चित्) चेतन, जीवात्मा है। भगवान् से यह उत्तर सुन कर उत्तरार्द्ध में पुनः

उपासक प्रभु से कहता है:—(वरुण) हे वरणीय भगवान् (ते) तुम्हारे (तत्) इस तत्त्व ज्ञान को (विद्वान्) जान कर (प्रब्रवीमि) मैं कहता हूँ कि (पणय:) दुर्व्यवहारी लोग (अधोवचस:) नीची आवाज़ वाले (भवन्तु) हो जायें (दासा:) अज्ञान के कारण क्षीण ये दुर्व्यवहारी लोग (भूमिं भूमि पर (नीचै:) नीचे होकर (उपसर्पन्तु) चलें।

उपासक द्वारा गत मन्त्र में पूछे गये प्रश्न का उत्तर भगवान् प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्द्ध में देते हैं। वे कहते हैं कि हे उपासक यह जो स्थूल इन्द्रियों से दिखाई देने वाला प्राकृतिक दृश्य जगत् है इसी पर बस सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता। इसकी तह में इससे सूक्ष्म और भी तत्त्व हैं। पहले तो देखो इस जगत् से परे एक ऐसा तत्त्व है जिसे हम 'एकं'—केवल एक, अद्वितीय—ऐसा कह सकते हैं। यह एक इसलिये कहा जाता है कि इस जैसा अन्य कोई पदार्थ विश्व में नहीं है। इसके स्वरूप की, इसकी शक्ति की, इसके गुणों की, इसके परिमाण की, इसके ज्ञान की, इसकी पवित्रता की तुलना विश्व का कोई भी पदार्थ नहीं कर सकता। वह अपने जैसा स्वयं आप ही है। न कोई उस जैसा उसका सजातीय है और न विजातीय। वह 'एक' तत्त्व इस दृश्य जगत् से 'पर' है। परं शब्द का अर्थ परे और उत्कृष्ट दोनों होता है। देखो यह प्राकृतिक दृश्य-जगत् कितना विशाल है! इसकी सीमा को कोई नहीं पा सका है। वैज्ञानिकों का कहना है कि रात को आकाश में दिखाई देने वाली यह जो हमारी आकाश गङ्गा है इसमें सौ हज़ार मिलियन (मिलियन=दसलाख)

सूर्य पता लगाये जा चुके हैं, और ऐसी-ऐसी सौ हज़ार मिलयन आकाश गङ्गाओं का पता चल चुका है, और फिर भी यह मानना पड़ता है कि जगत् इससे भी परे तक है, कह नहीं सकते कहां तक। फिर इस जाने हुए जगत् के विस्तार का भी तो कोई ठीक नहीं है। हमारी धरती से सबसे समीप का हमारा सूर्य खाली नौ करोड़ तीस लाख मील दूर है। यह दूरी कितनी है इसका अनुमान इससे लगेगा कि यदि इस सख्या को एक मिनट में दो सौ के हिसाब से गिनने लगें तो पूरे ग्यारह महीने गिनने में ही लग जायेंगे। प्रकाश एक सैकण्ड में एक लाख छियासी हज़ार तीन सौ मील चलता है। ध्रुवतारा हमसे इतनी दूर है कि उसके प्रकाश को पृथिवी तक आने में चवालीस वर्ष लगते हैं और सप्तर्षियों के प्रकाश को हम तक आने में एक सौ अस्सी वर्ष लगते हैं। ऐसे तारे भी जाने जा चुके हैं जिनके प्रकाश को हम तक आने में दस हज़ार वर्ष लगते हैं। और ये तारे हमसे बहुत समीप के तारे हैं। इनसे परे के तारों की दूरी का तो हमें कुछ अनुमान ही नहीं है। कितना अनन्त विशाल है यह जगत्! परन्तु वह 'एक' तत्त्व इस महाविशाल दृश्य विश्व से भी परे है। इस जगत् की सीमा भले ही हो जाये—जो कि वास्तव में है नहीं—परन्तु उस 'एक' की सीमा नहीं हो सकती। उसका परिमाण अनन्त है। यह स्पष्ट है कि यह 'अनन्त', 'एक' विश्व के अधिष्ठाता, सूक्त में गीयमान, वरुण नामधारी स्वयं परमेश्वर ही हैं। ये भगवान् सबसे परे अर्थात् उत्कृष्ट भी हैं। संसार की कोई वस्तु उनकी श्रेष्ठता की तुलना नहीं कर सकती। जो

व्यक्ति अपना वास्तविक कल्याण चाहता है उसे केवल प्राकृतिक जगत् के विषयों में ही लिप्त न रह कर उस परमाश्रय भगवान् का सहारा लेना चाहिये।

प्राकृतिक जगत् एक कोटि है और अद्वितीय परब्रह्म दूसरी कोटि है। प्राकृतिक जगत् इन्द्रियों का विषय है और अतएव एक दृष्टि से अतिस्थूल सत्ता का द्योतक है और अद्वितीय परब्रह्म इन्द्रियों और बुद्धि से अतीत परम सूक्ष्म सत्ता का द्योतक है। इन स्थूल और परमसूक्ष्म सत्ताओं के बीच में एक और सत्ता है। उसका नाम जीव है। यह सत्ता प्रकृति से तो बहुत उत्कृष्ट और सूक्ष्म है परन्तु परब्रह्म से यह कम उत्कृष्ट और सूक्ष्म है। इसी भाव को बताने के लिये मन्त्र में कहा है कि 'इस परले एक, अद्वितीय से इधर एक चेतन है जिसकी सत्ता हमसे कभी नहीं छिपती।' प्राकृतिक पदार्थ तो अपनी एक अवस्था में बाह्य इन्द्रियों द्वारा भी जाने जाते हैं इसलिये वे स्थूल हैं। परन्तु परब्रह्म बाह्य इन्द्रियों से तो देखे ही नहीं जाते प्रत्युत उनको बुद्धि से, विचार से भी पूर्णरीति से अनुभव नहीं किया जा सकता। इसलिये वे परम सूक्ष्म हैं। जीवात्मा बाह्य इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता इसलिये वह प्रकृति से सूक्ष्म है। परन्तु जीवात्मा स्वयं अपनी ज्ञानशक्ति से अपने आपको 'मैं' इस प्रकार के ज्ञान द्वारा सदा अनुभव करता रहता है। इसलिए वह परब्रह्म की अपेक्षा कम सूक्ष्म है। हमें जिस प्रकार की निकटतम, जीवन-मयी और प्रत्यक्ष अनुभूति 'मैं' की होती है उस प्रकार की अनुभूति परब्रह्म की नहीं होती—हम जैसे 'मैं' को पहचानते हैं वैसे परब्रह्म

को उसकी असलियत में नहीं पहचान सकते—इसलिए परब्रह्म जीव की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म, अधिक अगोचर है। मन्त्र में जीवात्मा को चित् शब्द से कहा गया है। चित् का अर्थ है—जानने वाला। यह जीवात्मा के प्रमुख लक्षणों में से एक है। जीव का जीवत्व इसी में है कि वह प्रतिक्षण किसी न किसी वस्तु को जानता रहता है, किसी न किसी विषय को सोचता रहता है। यदि वह किसी नये विषय का नहीं सोच रहा होता है तो पूर्व अनुभव किये हुए विषयों को ही स्मृति द्वारा देख रहा होता है। यदि किसी अन्य विषय को वह न भी सोच रहा हो तो वह स्वय अपने आपको ही 'मैं' इस प्रकार से जान रहा होता है। सुषुप्ति की अवस्था को छोड़ कर वह प्रतिक्षण किसी न किसी विषय को जान रहा होता है। सुषुप्ति में भी, विचारकों का मत है कि, जीव को 'मैं' का और अन्य विषयों के अभाव का ज्ञान रहता है। नहीं तो जागने पर वह यह न कह सकता कि 'मैं' खूब सोया। प्रयत्न को छोड़ कर शेष सुख, दुःख, इच्छादि जीव के लक्षण ज्ञान के ही अन्तर्गत हो सकते हैं। क्योंकि सुखादि विशेष प्रकार के ज्ञान के ही नाम हैं। इसी प्रकार हम जीव के विषय में—'मैं' के विषय में—जो कुछ जानते हैं वह उसके ज्ञानतत्त्व के आधार पर ही जानते हैं। इसलिये मन्त्र में जीव को जो 'चित्' कहा गया है वह बहुत उपयुक्त है। यों चित् तो परब्रह्म भी है। पर उनके चित्त्वगुण को हम अनुमान से जानते हैं। चित्त्व का सीधा अनुभव तो हमें अपने में ही—जीव में ही— होता है।

मन्त्र में चित् जीवात्मा का एक विशेषण और है। वह है 'दुर्णशम्'। दुर्णश का शब्दार्थ है जो कभी छिपे नहीं, जिसका कभी अदर्शन न हो। हम संसार की प्रत्येक वस्तु से इन्कार कर सकते हैं परन्तु अपने जीवात्मा से, अपने 'मैं' से कभी इन्कार नहीं कर सकते। ऐसे दार्शनिक मिल जायेंगे जो कह देंगे कि यह प्राकृतिक जगत् सर्वथा मिथ्या है। इसकी कोई सत्ता नहीं है। इसके सब अच्छे, बुरे और उदासीन रूप तथा इसके सब अच्छे, बुरे और उदासीन सम्बन्ध सर्वथा मिथ्या हैं। यह जगत् वस्तुतः न कभी था, न है और न होगा। इसमें जो कुछ सत्ता दृष्टिगोचर होती है वह हमारी कल्पित और अतात्त्विक है। और ऐसे भी दार्शनिक मिल जायेंगे जो कह देंगे कि परब्रह्म नाम की भी कोई वस्तु असल में नहीं है। परमात्मा और उसके सम्बन्ध के सब विचार निरी, असत्य, अतात्त्विक कल्पनामात्र हैं। परन्तु इस प्रकार के दार्शनिक भी अपने चित्त्व गुणशाली 'मैं' से इन्कार नहीं कर सकते। उन्हें इसकी सत्यता तो माननी ही पड़ती है कि 'मैं' हूँ जो कि जगत् की और परमात्मा की असत्यता को जान रहा हूँ और इसकी घोषणा कर रहा हूँ। मैं और सब से इन्कार कर सकता हूँ परन्तु 'मैं' से इन्कार नहीं कर सकता। यह 'मैं' दुर्णश है। मैं और सब वस्तुओं का अदर्शन कर सकता हूँ, उन्हें अपने विचार के द्वारा मिटा सकता हूँ, परन्तु मैं 'मैं' का अदर्शन नहीं कर सकता। मैं 'मैं' को 'मैं' से नहीं छिपा सकता। क्योंकि 'मैं' का तो मैं सीधा अनुभव कर रहा हूँ। इस 'मैं' के अनुभव का आधार लेकर ही तो मैं जगत् के विषय में अपनी स्थापनायें करता हूँ।

आत्मा के 'दुर्णाश' विशेषण से आचार-शास्त्र के क्षेत्र विषयक भी एक ध्वनि निकलती है। कितने ही अधैर्यशाली लोग जब असह्य दुःखों से आक्रान्त होते हैं तो इसके स्थान पर कि वे धीरता-पूर्वक उन दुखों को सह लें, वे आत्महत्या करके उन दुःखों से मुक्ति पाना चाहते हैं। वे समझते हैं कि जब हम ही न रहेंगे तो हमें दुःख कहां से होंगे। पर यह उनकी भूल है। आत्मा दुर्णाश है। उसका कभी नाश नहीं होता। हमें जो दुःख मिलते हैं वे प्रभु की नियम व्यवस्था के अनुसार हमारे अनुचित कर्मों का फल होते हैं। वे हमें भोगने ही पड़ेंगे। उनसे छुटकारा नहीं हो सकता। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" - कर्म अपना भोग दिये बिना नष्ट नहीं हो सकता। यदि हम आत्महत्या कर लेंगे तो हमें बचे हुए कर्म का दुःखभोग आगामी जन्म में करना पड़ेगा। और आत्म-हत्या का एक पाप अपने सिर पर हम और चढ़ा लेंगे। इसलिये बुद्धिमत्ता इसी में है कि आत्मा को अविनाशी जान कर इस जन्म में अपने कर्मों के कारण जो दुःख हमें भोगने पड़ते हैं उन्हें धीरता-पूर्वक यहीं भोग लें और यह जान कर कि हमारे दुःख हमारे कर्मों का फल हैं भविष्य में दुःखों से बचने के लिये अपने कर्मों को सुधारने की चेष्टा करें। जिससे आगामी जीवन के लिए और इस जीवन के भी अवशिष्ट भाग के लिए दुःखों से हमारा लेखा साफ़ हो जाये। अपने को मारना चाह कर कोई दुःख से नहीं बच सकता। क्योंकि आत्मा दुर्णाश है। अपने को पवित्र और शक्तिशाली बना कर ही हम दुःखों से बच सकते हैं।

इसके सथ ही आचार शास्त्र के क्षेत्र विषयक एक यह भी ध्वनि इस 'दुर्णश' विशेषण से निकलती है कि आत्मा अमर है और इसलिये यदि हमारे किन्हीं सत्प्रयत्नों का परिणाम हमें इस जन्म में नहीं दिखाई दे रहा तो निराश होने की कोई बात नहीं है। उन प्रयत्नों का फल हमें आगामी जन्म में मिलेगा। इसलिये अपने सत्प्रयत्न हमें कभी नहीं छोड़ने चाहियें। और इसीलिये हमें अपने कर्तव्य-पालन में किसी का भय नहीं करना चाहिये। क्योंकि आत्मा अमर है। उसे कोई नहीं मार सकता। इसलिये डरना क्य ?

मन्त्र में परमात्मा के सूचक 'एकं' शब्द के साथ एक विशेषण 'अन्यत्' लगाया गया है। अन्यत् का अर्थ है भिन्न, पृथक्। इस शब्द की ध्वनि यह है कि परमात्मा प्राकृतिक जगत् और जीवात्मा दोनों से भिन्न है, पृथक् है। अर्थात् जगत् और जीव परमात्मा के ही रूपान्तर-मात्र नहीं हैं। परमात्मा ही किसी विधि से जगत् और जीव के रूप में नहीं आया हुआ है। परमात्मा इनसे सर्वथा भिन्न है। उसकी सत्ता प्रकृति और जीव से बिल्कुल पृथक् है। ये तीनों तत्त्व एक ही नहीं हैं—ये एक दूसरे से सर्वथा और मौलिक रूप से भिन्न हैं।

परमात्मा को जो 'एकं' शब्द से कहा गया है उसकी भी एक ध्वनि है। वह यह कि परमात्मा ही एक है। प्रकृति और जीव एक नहीं हैं। वे दोनों अनेक हैं। प्रकृति परमाणुओं के रूप में अनेक है—प्रकृति के असंख्य परमाणु हैं। और जीवात्मा भी

असंख्य हैं। अनुभव में आने वाली प्रकृति और जीवों की अनेकता, असख्यता, को प्रभु के 'एकं' नाम द्वारा प्रकारान्तर से परिपुष्ट कर दिया गया है।

पूर्व मन्त्र के प्रश्न और उसके इस मन्त्रगत उत्तर द्वारा हमारा एक बडी मार्मिक बात की ओर ध्यान खेंचा गया है। कुछ लोग भूल से यह समझ बैठते हैं कि यह जो प्रकृतिक जगत् दिखाई दे रहा है इससे परे और ऊपर और कुछ नहीं है। विश्व-तत्त्व इस प्राकृतिक जगत् में ही समाप्त हो जाता है। बस प्राकृतिक जगत् ही है जो कुछ है। इससे भिन्न आत्मा, परमात्मा की कोई सत्ता नहीं है। परमात्मा तो सर्वथा ही कोई वस्तु नहीं है। जीवात्मा भी जो प्रतीत होते हैं वे प्रकृति के ही परिणाम हैं। उत्पन्न होने से पूर्व हमारा जीव नहीं था। मरने के पश्चात् भी नहीं रहेगा। जीवन काल में जो जीव दिखाई दे रहा है वह प्रकृतिका ही एक परिणाम मात्र है। प्रकृति से ही जैसे रूप, गन्ध आदि निकल आते हैं वैसे ही उससे विचार निकल आते हैं जिन्हें हम जीव नाम दे देते हैं। ऐसा समझ कर ये मूर्ख लोग कहने लगते हैं, हम न जन्म से पहले थे और न मरने के बाद रहेंगे, केवल कुछ समय के लिये हमारी सत्ता है। इस लये इस केवल कुछ समय तक रहने वाले जीवन को क्यों व्यर्थ खोते हो। इस क्षणभङ्गुर जीवन में जितना आनन्द लूटा जाये लूटो। जब आत्मा परमात्मा ही कुछ नहीं तो पाप पुण्य भी कुछ नहीं रह जाते। इस लिये जिस उपाय से भी बन सके अपनी क्षणिक जिन्दगी को सुखी

बनाने की चेष्टा करो। व्यक्ति जैसे विचार रखता है वैसे ही उसके आचरण भी हो जाया करते हैं। इसलिये ये अनीश्वर और अनात्मवादी प्रकृतिप्रिय लोग प्राकृतिक विषयों में बुरी तरह लिप्त हो जाते हैं। जीवन को नियन्त्रण में रखने वाला कोई आधार इनके पास नहीं रह जाता। इसलिये ये खूब खुल खेलते हैं। इस खुल खेलने का परिणाम यह होता है कि ये चले तो थे अपने को पूर्ण सुखी बनाने परन्तु बन जाते हैं पूर्ण दुःखी। अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के शरीर में भांति-भांति के रोगादि दुःख आ घुसते हैं। फिर स्वार्थवृत्ति के कारण ये व्यक्ति आपस में एक दूसरे को लूट-खसोट और धोखा देकर तथा लड़-झगड़ और मार-पीटकर परस्पर को दुःखी बनाते हैं। फिर इन स्वार्थपरायण व्यक्तियों से बनी हुई जातियें दूसरी जातियों को अपने अधीन करने के लिये भयङ्कर युद्धों द्वारा रुधिर की नदियें बहा कर अपने और विजेतव्य जातियों के अगणित लोगों को दुःख के सागर में डुबोती हैं। इस प्रकार यह दुःख-परम्परा बढ़ती ही जाती है। और एक समय ऐसा आता है जब कि दुःख पर दुःख भोगती हुई मनुष्य जाति स्वयं अपने जीवन से असन्तुष्ट हो जाती है। और उन्हें यह नहीं सूझता कि वे क्या करें और क्या न करें। उन्हें अपनी दुःख-पूर्ण दयनीय स्थिति से पार ले जाने वाला कोई मार्ग नहीं दृष्टि-गोचर होता।

भगवान् ने इस मन्त्र द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि विश्व-तत्त्व केवल प्रकृति पर ही समाप्त नहीं होता। प्रकृति से परे भी आत्मा और परमात्मा नाम की सत्तायें हैं। हमारी असलियत प्रकृति

नहीं, प्रकृति से भिन्न आत्मा हमारी असलियत है। प्रकृति और आत्मा दोनों का नियन्ता अद्वितीय परमात्मा है। जब हम परमात्मा के नियमों में रह कर, अपने 'आत्मत्व' को पहचानते हुए, प्राकृतिक जगत् का उपभोग करेंगे तो ही हमें संसार में सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। यदि हमने प्रकृति-तत्त्व से ऊपर आत्मा और विश्व के अधिष्ठाता परमात्मा को न पहिचाना तो हमारा कल्याण नहीं हो सकता। हम केवल अपनी आंखें मीच लेने से आत्मा और परमात्मा की सत्ता को नहीं मिटा सकते। हमारे न मानने पर भी आत्मा और परमात्मा हैं। हमारे न मानने पर भी स्वतन्त्र कर्मकर्ता हमारे 'आत्मा' की सत्ता है। हमारे न मानने पर भी हमारे कर्मों का फल देने वाले प्रभु की सत्ता है। हमारा आत्मा अनादि और अमर है। उसे उसके भले-बुरे कर्मों का सुख और दुःख फल देने वाला परमात्मा भी अनादि और अमर है। संसार में चलने के लिये परमात्मा ने आत्मा के लिये कुछ नियम बनाये हैं। उन नियमों पर चलने वाला ससार में सुखी होगा और अन्त में ईश्वर-साक्षात्कार द्वारा मोक्ष सुख का अधिकारी होगा। जो उन नियमों पर नहीं चलेगा वह दुःख उठायेगा। चाहे इसे कोई माने या न माने। हमारा न मानना वास्तविकता को मिटा नहीं सकता। इसीलिये तो हमें न चाहते हुए भी भांति-भांति के दुःख भोगने पड़ते हैं। क्योंकि हम अपने कर्मों का फल भोगने के लिये विवश हैं। असली सुख चाहने वाले को चाहिये कि वह प्रकृतिवाद (Materilaism) से ऊपर उठ कर आत्मवादी और परमात्मा-

वादी होकर अध्यात्मवाद (Spiritualism) को स्वीकार करे। इसी में व्यक्तियों का और इसी में जातियों का सुख है। हमें सुखी बनाने की यही अमृतौषधि है।

भगवान् से अपने प्रश्न का यह उत्तर सुन कर उपासक कहता है कि हे महाराज ! मैंने आपसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया। मुझे अच्छी तरह समझ में आ गया है कि प्राकृतिक जगत् ही सब कुछ नहीं है। केवल प्रकृतिवादी लोग पूर्ण कल्याण और मंगल प्राप्त नहीं कर सकते। प्रकृति से ऊपर आत्मा और परमात्मा नाम के तत्त्व भी हैं। जब तक इन दोनों तत्त्वों को भी नहीं पहचाना जायेगा और इस तत्त्वज्ञान के अनुसार अपने जीवन को नहीं ढाला जायेगा तब तक हमें पूर्ण मंगल की आशा नहीं रखनी चाहिये। हमारा पूर्ण मंगल अध्यात्म तत्त्व को जान कर ही हो सकता है। भगवान् से यह तत्त्वज्ञान सीख कर उपासक अपने अन्दर इस सचाई के प्रचार के लिये एक अद्भुत स्फुरणा अनुभव करता है। वह भगवान् को सम्बोधन करके कहता है कि हे वरुण ! मैं आपको सम्मुख करके कहता हूं कि अब मैं तय्यार हो गया हूँ, प्रकृतिवाद में पड़ने के कारण पणि अर्थात् दुर्व्यवहारी बन गये लोगों की आवाजें नीची हो जायें। मुझे सत्य ज्ञान प्राप्त हो गया है। अब मैं प्रकृतिवादी लोगों की आवाज़ को संसार में बढ़ने नहीं दूंगा। मेरे सत्यप्रचार के आन्दोलन के आगे उनकी आवाज़ को दब जाना पड़ेगा। अब उनके मिथ्या सिद्धान्त संसार को और अधिक दुःख और अमंगल प्रदान नहीं कर सकेंगे।

सत्य में शक्ति ही ऐसी है। जिसे कोई सत्य पता लग जाता है वह उसका प्रचार करने के लिये उतावला हो उठता है। वह उस सत्य को और उससे प्राप्त होने वाले मंगल को अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता। वह अपनी इस सम्पत्ति को औरों को बांट कर उनके साथ मिल कर भोगना चाहता है। सत्य का कुछ स्वरूप ही ऐसा है। उपासक को आध्यात्मिक सचाई का अनुभव हुआ है। वह भी उस सचाई का विश्व में प्रचार करने के लिये उतावला होकर प्रकृतिवादी पणियों को आह्वान कर रहा है।

प्रकृतिवाद में पड़ कर दुर्व्यहारी, पणि, बन गये लोगों को मन्त्र में एक दूसरे नाम दास से भी अभिहित किया गया है। यहां दास शब्द के अर्थ को समझ लेना चाहिये। वेद में दस्यु और दास शब्द का बहुत स्थलों पर प्रयोग हुआ है। ये दोनों शब्द 'दसु' धातु से, जिसका अर्थ उपक्षय अर्थात क्षीण होना है, बनते हैं। दस्यु के अर्थ में तो सब भाष्यकार सहमत हैं कि जो लोग दूसरों को क्षीण करें उन चोर, डाकू आदि दुष्ट पुरुषों को दस्यु कहते हैं। दास शब्द के अर्थ में मतभेद है। सायणाचार्य ने दास का अर्थ भी प्रायः दस्यु ही किया है। उसने इन दोनों में कर्ता में प्रत्यय माना है अर्थात् जो दूसरों को क्षीण करे वह दस्यु और दास है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में स्थान-स्थान पर दास का अर्थ शूद्र या सेवक भी किया है। दास का अर्थ संस्कृत साहित्य में शूद्र होता रहा है यह एक अत्यन्त सुप्रसिद्ध बात है। इसीलिए मनु आदि ने नियम भी बना रखा था

कि शूद्र व्यक्ति का नाम ऐसा रखना चाहिए जिसके अन्त में दास आता हो। इसलिए दास का अर्थ शूद्र करना ऋषि की अपनी ही कल्पना नहीं है। वह उनसे पूर्व के आचार्यों के मन्तव्य की परम्परा पर आश्रित है। ऋषि दयानन्द के मन्तव्य में शूद्र उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमें ब्राह्मणादि तीनों वर्णों में से किसी भी वर्ण की योग्यता न हो, जो सिखाने पर भी कोई बुद्धि की बात न सीख सके, जो खाली सेवकपने आदि के छोटे-मोटे स्थूल बुद्धि के काम ही कर सके। दूसरे शब्दों में जो व्यक्ति अपने अन्दर कोई भी ऊंची शक्ति न होने के कारण क्षीण है, दुर्बल है, वह शूद्र कहलाता है। इसीलिए शूद्र शब्द का अर्थ भी यही है कि "शुचं द्रावयति," अर्थात् जिसे देख कर दूसरों के मन में दया उत्पन्न हो कि देखो विचारे में कुछ भी योग्यता नहीं आ सकी। इसलिये जब ऋषि दयानन्द और मनु आदि आचार्य्य दास का अर्थ शूद्र करते हैं तो उनके मत में दास में कर्ता में प्रत्यय नहीं है प्रत्युत कर्म में प्रत्यय है। अर्थात् क्षीण करने वाला नहीं प्रत्युत जो स्वयं क्षीण है वह दास है।

ऋषि दयानन्द ने दास का अर्थ गुणों में क्षीण सेवक या शूद्र निरा अपनी कल्पना से नहीं कर लिया है। स्वयं वेद में भी यह शब्द शूद्र अर्थात् सेवक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद के कुछ स्थलों में यह शब्द इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है कि वहां इसका अर्थ सेवक या शूद्र के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिये ऋग्० ७।८६।७ में "अरं न दासो मीढुषे कराणि" यह वाक्य आता है। इसमें उपासक वरुण भगवान् को संबोधन

कर रहा है। वह भगवान् से कह रहा है कि प्रभो! जैसे दास स्वामी की भक्ति करता है वैसे ही मैं भी आपकी खूब भक्ति करूं। यहां स्पष्ट ही दास का अर्थ सेवक है। सायण को भी यहां दास का अर्थ भृत्य अर्थात् सेवक ही करना पड़ा है। इसी प्रकार ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १६ वें सूक्त से लेकर २४ वें सूक्त तक के प्रत्येक सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अन्तिम चरण में "स्याम रथ्यः सदासाः" ये शब्द आते हैं। इन शब्दों से ऊपर के मन्त्र भाग में कहा गया है कि हे इन्द्र (प्रभो) हमने आपकी वेदोक्त स्तुति कर ली है। इस वाक्य के पश्चात ये उद्धृत शब्द प्रार्थनारूप में आते हैं। इन में कहा गया है कि हे भगवन्! आपकी स्तुति के कारण हम रथों वाले और सदास अर्थात् दासों से युक्त हो जायें। यहां दास का अर्थ दस्यु नहीं सेवक ही करना होगा। कोई भी अपने घर में भगवान् से दस्यु भेजने की प्रार्थना नहीं कर सकता। सायण ने यहां 'सदासाः' का अर्थ "सर्वदा भजमानाः" अर्थात सदा सेवा करने वाले उपासक ऐसा किया है। इस अर्थ में भी दास का अर्थ सेवक ऐसा ही मानना पड़ता है। सायण को भी यहां दास का दस्यु अर्थ त्याग देना पड़ा है। पुनः ऋग्० ८।५१।९ में "यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपाः" यह वाक्य आता है। यह वाक्य इन्द्र का विशेषण है। इसका शब्दार्थ होता है—"जिस इन्द्र का आर्य और दास सब जन-समुदाय शेवधिपा अर्थात् खज़ाने की रक्षा करने वाला है!" आर्य और दास दोनों मिल कर इन्द्र के—परमेश्वर के—शेवधि की, खज़ाने की, रक्षा करते हैं। यहां भी

दास का अर्थ दस्यु नहीं हो सकता। दस्यु रक्षा नहीं करता। वह विनाश करता है। यहां दास का अर्थ शूद्र या सेवक ही करना होगा। आर्य का अर्थ यहां ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग होगा। दास का अर्थ शूद्र वर्ण के लोग होगा। वेद के अनुसार मनुष्य-जाति के आर्य और दस्यु—अच्छे लोग और बुरे लोग—ये दो भेद होते हैं। वेद के "विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः" (ऋग्० १।५१।८) आदि स्थलों से यह बात विदित होती है। इस मन्त्र खण्ड का शब्दार्थ है—"जो आर्य हैं और जो दस्यु हैं उन्हें भलीभांति जानो।" फिर आर्य लोगों के दो विभाग हो जाते हैं। आर्य वर्ण और दास वर्ण। ऋग्वेद के "हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णमावत्" (ऋग्०३।३४।६) इस मन्त्र खण्ड में 'आर्य वर्ण' शब्द का प्रयोग हुआ है। मन्त्र खण्ड का शब्दार्थ है कि "इन्द्र दस्युओं को दण्डित कर के आर्य वर्ण की रक्षा करता है।" आर्य वर्ण में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण आते हैं। ऋग्० ७।३३।७ में इस सम्बन्ध में कहा है—"तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः," अर्थात "तीन प्रकार की प्रजायें आर्य कहलाती हैं क्योंकि वे ज्योति अर्थात ज्ञान के प्रकाश में अग्रगामी होती हैं" और दास वर्ण के सम्बन्ध में कहा है—"यो दासं वर्णमधरं गुहा कः" (ऋग्० २।१२।४) अर्थात् "जो इन्द्र (परमात्मा या सम्राट्) बुद्धि में नीचे पुरुष को दास वर्ण बनाता है।" जो लोग ज्ञान में, बुद्धि में, अग्रगामी हैं वे आर्य और जो बुद्धि में, ज्ञान में, निम्न हैं वे दास या शूद्र कहलाते हैं। दास या शूद्र की तुलना में ब्राह्मणादि तीन वर्णों के लोग

आर्य इसलिए कहलाते हैं कि वे ज्ञान का, विद्या का, जीवन व्यतीत करते हैं। दास या शूद्र वर्ण के लोगों में ज्ञान, विद्या, न होने के कारण उन्हें इस नाम से कहा जाता है। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में शूद्र का अर्थ यह किया है कि जो पढ़ाने-लिखाने पर भी कुछ न पढ़ लिख सके वह शूद्र है। इसलिए हम दास का ऋषि दयानन्दकृत शूद्र अर्थात् अज्ञान का जीवन व्यतीत करने वाले क्षीण दयनीय व्यक्ति ऐसा अर्थ भली-भांति स्वीकार कर सकते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में जो प्रकृतिवादी दुर्व्यवहारी, पणि, लोगों को दास कहा है वह दासवर्ण अर्थात शूद्रवर्ण के अभिप्राय से तो नहीं कहा गया है। क्यों कि प्रकृतिवादी लोग बड़े-बड़े पण्डित भी हो सकते हैं। वे दस्यु तो भले ही हों पर उन्हें दास अर्थात् शूद्र अर्थात् बुद्धि न होने के कारण सेवा आदि करने वाले नहीं कहा जा सकता। तो फिर यहां पणियों के लिये शूद्र का वाचक दास शब्द क्यों व्यवहृत किया गया? यहां इस शब्द के प्रयोग की विशेष ध्वनि है। वह यह कि जिस प्रकार एक दास अर्थात् बुद्धि के अभाव के कारण क्षीण शूद्र व्यक्ति दयनीय होता है उसी प्रकार ये प्रकृतिवादी पणि, दुर्व्यवहारी, लोग भी दयनीय हैं। ये जो प्रकृतिवादी हो गये हैं इसका कारण यह है कि इन्हें तत्त्व का पूर्णज्ञान नहीं है। इस लिये वास्तविक तत्त्वज्ञानी के लिये तो ये दयनीय हैं। वह तत्वज्ञानी इन अज्ञानी प्रकृतिवादियों को मन्त्र के वर्णन के अनुसार भूमि पर ही चलाने के लिये अर्थात् उन्हें

बहुत न बढ़ने देने के लिये तो पूरी चेष्टा करेगा परन्तु इस चेष्टा में उसके हृदय में प्रकृतिवादियों के लिये शत्रुता के भाव न होकर करुणा के भाव होंगे। वह उनका विरोध असल में उनके कल्याण के लिये कर रहा होगा।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध से पाठक देखेंगे कि यह ध्वनि भी स्पष्ट निकल रही है कि हमें वेद के स्वाध्याय से, आत्मा और परमात्मा के चिन्तन से जो ज्ञान प्राप्त हो उसे अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये। प्रत्युत उसका दूसरों तक प्रचार करने में भी हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिये। जैसे मन्त्र का उपासक अपनी प्राप्त सचाई का प्रचार करने के लिये उछल रहा है वैसे ही हमें भी करना चाहिये।

हे मेरे आत्मा ! क्या तू भी कभी जड़-चेतन के, आत्मा-अनात्मा के और आत्मा-परमात्मा के भेद को भली भांति हृदयंगम करके प्राकृतिक विषयों के एकान्त सेवन में लिप्त रहने के मार्ग से जिसका अन्तिम परिणाम अवश्यंभावी कष्ट है, परे हट कर अध्यात्म मार्ग का अनुगामी बन सकेगा ? यदि बन सकेगा तो तेरे लिये शाश्वत सुख का द्वार खुला पड़ा है।

हे नाथ आप मेरा साथ न छोड़ना।

त्वं ह्यङ्ग वरुण ब्रवीषि,
पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि।
मो षु पणींरभ्येतावतो भून्
मात्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥ ७ ॥

अर्थ—(अङ्ग) हे (वरुण) वरणीय प्रभो (त्वं) तुम (पुनर्मघेषु) बार-बार आत्मिक आदि धन प्राप्त करने के निमित्त (भूरि) बहुत से (अवद्यानि) निन्दनीय आचरणों को (ब्रवीषि) हमें बता देते हो, [जिस से हम उन से बच सकें] आप (एतावतः) इन इतने (पणीन्) दुष्टव्यवहारी पुरुषों की (अभि) ओर (सु मो भूत) कभी मत हूजिये। (त्वा) आपको (जनासः) लोग (अराधसं) अपने ऐश्वर्य न दान देने वाला (मा) न (वोचन्) कह सकें।

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में भगवान् को पुनर्मघ कहा गया था क्योंकि भगवान् हमें बार बार मघ अर्थात् वेदोपदेशादि रूप ऐश्वर्य का दान करते हैं। फिर द्वितीय मन्त्र में उपासक के लिये पुनर्मघ शब्द का प्रयोग हुआ था। क्योंकि भगवान् से ऐश्वर्य प्राप्त करके उपासक भी उस ऐश्वर्य का औरों के लिये बार-बार दान करने वाला बन जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में पुनर्मघ शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। यहां यह शब्द बार-बार ऐश्वर्य दान करने वाले के लिये नहीं प्रत्युत बार-बार प्राप्त होने वाले ऐश्वर्यों के लिये प्रयुक्त हुआ है। जो विविध प्रकार के ऐश्वर्य हमें बार-बार प्राप्त होते हैं वे पुनर्मघ कहलायेंगे। फिर यहां सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इस विभक्ति का प्रयोग निमित्त अर्थ में भी होता है। इसलिये मन्त्र के पुनर्मघेषु' का अर्थ हुआ, बार-बार प्राप्त होनेवाले ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये। भगवान् ने पूर्व मन्त्रमें उपासक को संसारके अन्तिम तत्वों के संबंध में बड़ा मार्मिक और कल्याणकारी उपदेश दिया था। उस उपदेश की ओर ध्यान करके उपासक प्रस्तुत मन्त्र में भगवान्

की महिमा को गा रहा है। वह कह रहा है कि हे भगवन्, आप हमें सदा ही कल्याणकारी उपदेश और निन्दनीय आचरणों से बचने की शिक्षा देते रहते हो। इनके अनुसार यदि हम चलना प्रारम्भ कर दें तो हमें बार-बार, बहुत अधिक, आत्मिक शान्ति आदि के ऐश्वर्य प्राप्त हो सकते हैं।

उपासक ने गत मन्त्र के उत्तरार्द्ध में भगवान् को लक्ष्य करके यह निश्चय प्रकट किया था कि मैं अब तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् प्रकृतिवाद में फंसे हुए दुर्व्यवहारी, पणि लोगों के साथ युद्ध करने में जुट जाऊंगा—उनकी आवाज को संसार में बढ़ने नहीं दूंगा। परन्तु इतने महान् कार्य को कोई व्यक्ति अकेला अपनी शक्ति के सहारे करने का साहस कैसे कर सकता है। यह कार्य तो कोई व्यक्ति तभी कर सकता है जब कि उसके साथ सदा परमात्मा की शक्ति का हाथ हो। इसी अभिप्राय से उपासक भगवान् से कह रहा है कि हे महाराज आप इन प्रकृतिवादी दुर्व्यवहारी लोगों की ओर मत हूजिये, उनकी सहायता मत कीजिये। भाव यह है कि आप मेरीही सहायता कीजिये। भगवान् कभी दुर्व्यवहारी लोगों की ओर भी हो जाते हों ऐसी बात नहीं है। स्थान-स्थान पर वेद में भगवान् को सत्य का पक्ष लेने वाला कहा है। ऊपर के मन्त्र में ही जब कि भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि प्रकृति से ऊपर आत्मा और परमात्मा भी हैं तो जो लोग परमात्मा को न मान कर प्रकृतिवाद में पड़े हैं भगवान् उनके पक्ष में कभी हो जायेंगे यह कभी सम्भव ही नहीं हो सकता। फिर भी मन्त्र में उपासक भगवान् से जो यह कह रहा है कि आप कभी दुर्व्यव-

हारियों की ओर मत हूजिये वह केवल मनुष्य की मनोवृत्ति की दृष्टि से कहा गया है। मनुष्य की यह मनोवृत्ति है कि जब उसके सम्मुख कोई विरोधी शक्ति हो तो वह भगवान् से प्रायः कह दिया करता है कि हे भगवान् आप मेरी ओर ही हूजिये विरोधियों की ओर मत हूजिये। इस प्रकार के उद्गार प्रकट करने से मनुष्य को एक विशेष प्रकार का सन्तोष प्राप्त होता है।

मन्त्र में पणियों के लिये "एतावतः" विशेषण दिया गया है। एतावतः का शब्दार्थ है इतने। इस पद की ध्वनि यह है कि हे भगवन् ये पणि लोग तो इतने सारे हैं और मैं अकेला हूँ, यदि मुझे आपकी सहायता न मिली तो मैं इनकी प्रतिद्वन्द्विता कैसे कर सकूंगा। साथ ही इस "इतने" शब्द से यह भी सूचित होता है कि जगत् में प्रायः प्रकृतिवादी, दुर्व्यवहारी लोग ही अधिक रहते हैं, उनकी तुलना में पूर्ण अध्यात्मवादी लोग थोड़े होते हैं। क्योंकि प्रकृति तो स्थूल है, उसकी ओर मनुष्यों का चित्त झट चला जाता है। आत्मा और परमात्मा सूक्ष्म हैं, उनको समझने में मनुष्य को कठिनाई होती है।

मन्त्र के अन्तिम चरण में उपासक एक और बात कहता है। वह कहता है कि हे महाराज, जैसा ज्ञान आपने मुझे सिखाया है वैसा अन्य मनुष्यों को भी सिखाते रहिये। कोई यह न कह सके कि भगवान् ने मुझे यह ज्ञान नहीं सिखाया। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये उपासक प्रभु से कह रहा है कि आपको लोग दान न देने वाला न कह सकें। क्योंकि मन्त्र में "ब्रवीषि" क्रिया

द्वारा भगवान् के उपदेश की ओर निर्देश है, इसलिये यहां ऐश्वर्य दान का अभिप्राय उपदेशरूप ऐश्वर्य दान ही मुख्य रूप में लेना चाहिये ।

हे मेरे आत्मा ! भगवान् ने हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिये अपने वेद के उपदेश में जो बुराइयों से बचाने वाले अनेक उपदेश दिये हैं तुम भी सदा उनका पालन करते रहना ।

मेरे इस वेद-स्तोत्र को सब मनुष्यों में पहुँचा दो

मा मा वोचन्नराधसं जनास,
पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि ।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचोभिः,
अन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥८॥

अर्थ—(जरितः) हे मेरे गुण गाने वाले उपासक (जनासः) लोग (मा) मुझे (अराधसं) ऐश्वर्य दान न देने वाला (मा) न (अवोचन्) कह सकें, इसलिये (पुनः) फिर (पृश्निं) वेद वाणी को (ते) तुम्हें (ददासि) देता हूँ (मे) मेरे (विश्वं) सम्पूर्ण (स्तोत्रं) वेदरूप इस स्तोत्र को (मानुषीषु) मनुष्यों वाली (विश्वासु) सब (दिक्षु) दिशाओं (अन्तः) में (शचीभिः) अपनी बुद्धि और कर्मों से (आयाहि) पहुँचा दे ।

गत मन्त्र के अन्तिम चरण में जो भावना उपासक ने भगवान् के प्रति प्रकट की थी उसके उत्तर में प्रभु कहते हैं कि

उपासक लोग यह न कह सकें कि मैं अपने ऐश्वर्य का दान नहीं करता इसलिये मैं यह वेदविद्या तुम्हें फिर देता हूँ। मुझसे प्राप्त किये हुये इस सम्पूर्ण वेद-स्तोत्र को तुम दिशाओं में जहां-जहां भी मनुष्य रहते हैं वहां सर्वत्र पहुंचा दो। इस कार्य में तुम अपनी शक्ति लगा दो। शची ज्ञान और कर्म को कहते हैं। उपासक को चाहिये कि वह भगवान् से प्राप्त किए हुए वेदज्ञान को संसार के लोगों तक पहुंचाने में अपना सारा ज्ञान और सारी कर्म-शक्ति लगा दे। भगवान् कहते हैं कि हे उपासक, मैंने यह वेदज्ञान तुमको बता दिया है। मेरा यह सब से श्रेष्ठ ऐश्वर्य है। इस ज्ञान को सीख कर मनुष्य सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। इस वेद-ज्ञान को तुम केवल अपने तक ही सीमित मत रखो। इसे तुम सब लोगों तक पहुंचा दो। मैंने यह तुम्हें इसीलिये दिया है। जब तुम इसको प्रचार द्वारा सब लोगों तक पहुँचा दोगे तब कोई भी यह नहीं कह सकेगा कि मैंने लोगों को अपना ऐश्वर्य दान नहीं दिया।

मन्त्र में यह जो कहा गया है कि मैं यह वेदज्ञान तुम्हें "पुनः" देता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि यों तो सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों पर भगवान् ने वेद का ज्ञान प्रकाशित कर दिया था पर जब तक कोई व्यक्ति सृष्टि के आरम्भ में प्रकाशित किये उस ज्ञान को पढ़ना और समझना शुरू न करे तब तक वेदज्ञान असल में उसे प्राप्त नहीं हुआ है। जब कोई वेद को पढ़ना चाहेगा तभी वस्तुतः उसे वेद प्राप्त होगा। इस

लिये जब कोई व्यक्ति वेद को पढ़ता है और समझता है तभी मानों उसके लिये भगवान् ने वेदज्ञान नये सिरे से पुनः दिया है।

वेद को मन्त्र में पृश्नि कहा है। यह किस अभिप्राय से है इस पर प्रथम मन्त्र की व्याख्या में लिख आये हैं। उसी पृश्निपद्वाच्य वेद को मन्त्र में "स्तोत्र" नाम से भी कहा है। स्तोत्र उसे कहते हैं जिसमें किसी के गुण वर्णित किये जायें। वेद में क्योंकि भांति-भांति के पदार्थों के गुणों का वर्णन किया गया है इसलिये वह स्तोत्र है। स्तोत्र शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में एक प्रकारके काव्यों के लिये भी होता है। इसी सूक्त के दूसरे और तीसरे मन्त्र में वेद का काव्य भी कहा गया है। इस स्तोत्र का दान करने वाले भगवान् को भला अदानी कौन कह सकता है?

मन्त्र में भगवान् उपासक से कह रहे हैं कि तू मुझ द्वारा प्राप्त किये हुए वेदज्ञान का सब मनुष्यों में प्रचार कर। इससे यह ध्वनि निकलती है कि जो वेद को पढ़े उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने सीखे ज्ञान को दूसरे मनुष्यों के लिये सदा उनमें प्रचार करता रहे।

हे मेरे आत्मा! तू प्रभु की इस आज्ञा का सदा स्मरण रखना। तू वेद का सदा स्वाध्याय करते रहना और इस स्वाध्याय से तुम्हें जो ज्ञान उपलब्ध हो उसका अपने चारों ओर के सब लोगों में प्रचार करते रहना।

मैं आपके वेद-स्तोत्र का सर्वत्र प्रचार करूंगा

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्तु,
अन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि,
युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो (मानुषीषु) मनुष्यों वाली (विश्वासु) सब (दिक्षु) दिशाओं (अन्तः) में (ते) तेरे (स्तोत्राणि) स्तोत्र (उद्यतानि) उठ कर (आ) सब ओर (यन्तु) चलें (नु) निश्चय ही मे । मुझे (देहि) दे दीजिये (यत्) जोकि (मे) मुझे (अदत्तः) नहीं दिया (असि है, [क्योंकि हे भगवान् तू] (मे) मेरा (युज्यः) मिलने योग्य (सप्तपदः) सदा साथ रहने वाला और सात छन्दों वाली वेदवाणी से प्राप्त होने वाला (सखा) मित्र (असि) है ।

गत मन्त्र में भगवान् ने उपासक से कहा था कि हे भक्त तू मेरे वेद-स्तोत्र को सब मनुष्यों तक पहुँचा दे । प्रस्तुत मन्त्र में उपासक भगवान् से कहता है कि हे महाराज, बहुत अच्छा, मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करूंगा । आपकी आज्ञानुसार मेरे प्रयत्न द्वारा आपके वेद-स्तोत्र सब दिशाओं में सब मनुष्यों तक खूब उठ कर चलें—उनका सर्वत्र खूब प्रचार हो ।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उपासक भगवान् से कहता है कि महाराज ! मैं आपकी आज्ञानुसार वेद-प्रचार में तो लगता हूँ पर

इसके लिये तो बड़ी योग्यता और शक्ति की आवश्यकता है। इस महान् कार्य के लिये शरीर में बड़ा बल चाहिये, मस्तिष्क में बड़ी प्रतिभा चाहिये, गहरी सूझ और स्मृति चाहिये, प्रबल सहन-शक्ति चाहिये, मन और इन्द्रियों पर विजय चाहिये। इसलिये हे भगवान् इन शक्तियों में से जो शक्ति अभी तक आपने मुझे नहीं दी है उसका मुझे प्रदान कीजिये जिससे मैं आपके वेद-स्तोत्र का आदर्श प्रचारक बन सकूं। महाराज मैं आपसे जो यह दान मांग रहा हूँ वह आपको मुझे यों भी देना चाहिये क्योंकि मैं आपका मित्र हूँ। और मित्र की वस्तुयें मित्र के लिये ही तो होती है। कोई मित्र अपनी वस्तुओं को मित्र के लिये देने में संकोच नहीं करता।

मन्त्र में प्रभु को मित्र कह कर उसके 'युज्यः' और 'सप्तपदः' ये दो विशेषण दिये गये हैं। युज्यः का अर्थ है जिसके साथ योग करना चाहिये—जिसके साथ अपने आपको मिलाना चाहिये। अपने सामान्य जीवन में हम अज्ञानादि के कारण परमात्मा को पहचानते नहीं और इसीलिए हम उनसे दूर रहते हैं। उनसे हमारा योग नहीं हो पाता। जिसका फल यह होता है कि हम प्रभु से योग द्वारा जो आनन्द और मोक्षसुख प्राप्त होना था उससे वंचित रहते हैं। यों तो भगवान् सदा ही हम से मिले रहते हैं। भगवान् का परिमाण अनन्त, असीम, है। इसलिए कोई ऐसा समय नहीं था जब कि हम परमात्मा से मिले हुए नहीं थे और न ही ऐसा समय भविष्य में कभी होगा जब कि हमारा परमात्मा

से संयोग न होगा। परन्तु अज्ञान के कारण हम इस योग को अनुभव नहीं करते। इसी अभिप्राय से कहा कि प्रभो आप सप्त-पद हैं। जिसका पद अर्थात् स्वरूप हम से सप्त अर्थात् समवेत, संयुक्त, हो उसे सप्तपद कहेंगे। भगवान् हमारे ऐसे ही सप्तपद, सदा संयुक्त, मित्र हैं। यह और बात है कि अज्ञान के कारण हम उनके इस संयोग को पहिचानते नहीं। सप्तपदः का एक और अर्थ होता है। सप्त अर्थात् सातों द्वारा जो पद अर्थात् प्राप्त किया जाये वह सप्तपद कहलायेगा। वेद की रचना गायत्री आदि सात छन्दों में हुई है। वेद के इन सात छन्दों में बंधे हुए मन्त्रों के अध्ययन और मनन से परमात्मा प्राप्त होते हैं—उनका हमें ज्ञान होता है इसलिये भगवान् सप्तपद हैं। इस प्रकार इस विशेषण द्वारा हमें यह भी बता दिया गया कि परमात्मा का हमसे सदा संयोग रहता है और यह भी बता दिया कि अज्ञान के कारण हम जो प्रभु के हम से नित्य संयोग को पहचान नहीं पाते उस अज्ञान को दूर करने का उपाय क्या है।

मन्त्र में वेद के लिये 'स्तोत्राणि' ऐसा बहुवचन आया है। यह वेदों की अथवा वेदमन्त्रों की संख्या की बहुलता के कारण समझना चाहिये। क्योंकि वेद चार हैं और वेदमन्त्र सहस्रों हैं। पूर्व मन्त्र में जो स्तोत्र ऐसा एक वचन आया था वह बहुत्व में एकत्व की विवक्षा से था।

मन्त्र के 'देहि नु मे यन्मे अदत्तः असि' इस वाक्य का अर्थ हमने सीधा यह कर दिया गया है कि "जो मुझे नहीं दिया है वह

मुझे दीजिये।" मन्त्र का "अदत्तः" शब्द वास्तव में वरुण का विशेषण है। इसका शब्दार्थ है—"नहीं दिया है जिसने ऐसा।" मन्त्र की "असि" क्रिया भी मध्यम पुरुष का एकवचन है और संबोधन किये जा रहे वरुण के लिये ही प्रयुक्त हुई है। इस सारे वाक्य का शब्दार्थ यह है कि "दीजिये मुझे वह जिसके कारण आप मेरे प्रति नहीं दिया है जिसने ऐसे हैं।" जिसका भाव यही है कि जो आपने मुझे नहीं दिया है वह मुझे दीजिये। हमने अनुवाद की भाषा की सरलता और स्पष्टता के लिये वह अर्थ किया है जो ऊपर लिखा गया है।

हे मेरे आत्मा! सदा प्रभु की शरण में जाकर जो शक्तियें तुम में नहीं हैं उनकी प्रभु से याचना करो। और उनसे शक्ति प्राप्त करके सब दिशाओं में प्रभु के वेद-स्तोत्र का प्रचार कर दो।

सप्तपद सखा

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा,
वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा।
ददामि तद् यत्ते अदत्तो अस्मि,
युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥१०॥

अर्थ—(वरुण) हे वरणीय भगवान् (नौ) हम दोनों की (बन्धुः) बन्धुता (समा) समान है (जा) जन्म (समा) समान है।

प्रभु कहते हैं—हे उपासक (नौ) हम दोनों का (यत्) जो (एषा) यह (जा) जन्म (समा) समान है (तद्) उसे (अहं मैं (वेद) जानता हूँ। (यत्) जो (ते) तुझे (अदत्तः मैंने नहीं दिया (अस्मि) है (तत्) वह (ददामि) देता हूँ. मैं (ते) तेरा (युज्यः) मिलने योग्य (सप्तपदः) साथ रहने वाला और सात छन्दों वाली वेदवाणी से प्राप्त होने वाला (सखा) मित्र (अस्मि) हूं।

इस मन्त्र के प्रथम चरण को गत मन्त्र के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। यह उपासक का वाक्य है। इसीलिये इसका अर्थ पृथक् करके लिखा गया है। अष्टम मन्त्र में भगवान् बोल रहे हैं। नवम मन्त्र में उपासक बोल रहा है और वह भगवान् से दान मांग रहा है। फिर दशम मन्त्र में भगवान् बोल रहे हैं और उपासक से कह रहे हैं कि लो मैं तुम्हारा मांगा दान तुम्हें देता हूँ। परन्तु इस मन्त्र का प्रथम चरण भगवान् का वाक्य नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें स्पष्ट ही "वरुण" इस सम्बोधनान्त पद द्वारा भगवान् को बुलाया जा रहा है। इसलिये यह असंदिग्ध रूप में उपासक का वाक्य है। और अर्थ के समय इसीलिये इसे नवम मन्त्र के साथ, जो कि उपासक का वाक्य है, मिला कर पढ़ना चाहिये। नवम मन्त्र के साथ इस चरण को मिलाकर पढ़ने से उपासक का भाव यह हो जायेगा कि क्योंकि आप मेरे युज्य, सप्तपद मित्र हैं और हमारी बन्धुता और जन्म समान है इसलिये हे प्रभो आपने मुझे जो कुछ नहीं दिया है वह दीजिये।

हमारी और भगवान् की बन्धुता और जन्म समान हैं इस वाक्य का भाव समझ लेना चाहिये। जो एक वंश और जाति के लोग होते हैं उन्हें बन्धु कहा जाता है। हममें और भगवान् में पारस्परिक बन्धुता है। हमारा जीव भी अप्राकृतिक है और प्रभु भी अप्राकृतिक हैं। हम भी ज्ञानमय हैं और भगवान् भी ज्ञानममय हैं। हम दोनों एकही जैसे हैं। हम दोनों में आत्मत्व समान है। भेद केवल इतना है कि हम आत्मा हैं और भगवान् परमात्मा हैं। प्रकृति से भिन्न प्रकार की सत्ता होने के कारण हम में एक प्रकार की बन्धुता है। साथ ही बन्धु शब्द की यह ध्वनि भी है कि जैसे बन्धुओं में प्रेम होता है वैसे ही हम दोनों में भी प्रेम है। ज्ञानी आत्मा और परमात्मा में तो प्रेम होता ही है। अज्ञानी आत्मा में भले ही परमात्मा के लिये प्रेम न हो, पर प्रभु में तो उसके लिये भी प्रेम रहता है।

दोनों के समान जन्म का भाव यह है कि जैसे परमात्मा का जन्म अनादि है, वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ, वैसे ही आत्मा का जन्म भी अनादि है वह भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ। दोनों अनादि काल से चले आ रहे हैं। क्योंकि अन्यत्र वेद में आत्मा और परमात्मा को 'अज' अर्थात् कभी उत्पन्न न होने वाला कहा है इसलिये यहां दोनों के समान जन्म का वही भाव लेना होगा जो अभी दिखाया गया है। यह समान जन्म का वर्णन एक आलङ्कारिक वर्णन मात्र है।

मन्त्र के शेष तीनों चरणों में भगवान् बोल रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे उपासक मैं जानता हूँ कि हमारा अनादि

जन्म और अनादि बन्धुता समान है। मैं तुम्हारा युज्य और सप्तपद मित्र भी हूं। इसलिये मैंने अब तक तुम्हें जो नहीं दिया है वह देता हूँ। जिससे कि तू आदर्श शक्ति-सम्पन्न होकर वेद का मनुष्यों में सर्वत्र प्रचार कर सके।

हे मेरे आत्मा! तुम तो प्रभु के बन्धु हो, प्रभु के प्यारे मित्र हो। अज्ञान के कारण तुम्हें भगवान् के साथ अपने इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहा है। अपने इस सम्बन्ध को स्मरण करो और भगवान् की शरण में जाओ। उनसे जो कुछ मांगोगे वह तुम्हें मिलेगा।

—:❀:—

प्रभु ने मुझे अथर्वा पिता बना दिया है

देवो देवाय गृणते वयोधा,
विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्,
अथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्॥
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तम्,
सखा नो असि परमं च बन्धुः॥११॥

अर्थ—(वरुण) हे वरण करने योग्य भगवान् (देवः) आप दिव्य शक्तियों वाले देव हैं (देवाय) दिव्य गुणों वाले (गृणते) भक्त के लिए (वयोधाः) आप अन्न और आयु देने

वाले हो (विप्रः) आप ज्ञानी हो (विप्राय) विद्वान् (स्तुवते) भक्त के लिए (सुमेधाः) उत्तम धारणावती बुद्धि देने वाले हो (स्वधावन्) अपनी शक्ति से स्वयं धारित हे भगवन् (पितरं) अपनी शक्तियों द्वारा अन्यों की पालना करने वाला (देवबन्धुं) दिव्य गुणों का बन्धु और (अथर्वाणं) स्थितप्रज्ञ तत्त्वज्ञानी (अजीजनः) आपने मुझे बना दिया है (तस्मै) उस प्रकार के गुणों वाले मेरे लिये (उ) निश्चय से (सुप्रशस्तं) उत्तम प्रशंसनीय (राधः) ऐश्वर्य (कृणुहि) कीजिए, दीजिए (नः) हमारे (सखा) मित्र (च) और (परमं) परम (बन्धुः) बन्धु (असि) आप हैं।

भगवान् देव हैं। देव शब्द 'दा' धातु और 'दिवु' धातु से बनता है। भगवान् इसलिए देव हैं कि वे हमारे लिए सर्वदा भांति-भांति के मंगलों को प्रदान करते रहते हैं। वे इसलिए भी देव हैं कि उनमें असीम द्युति अर्थात् ज्ञानादि उज्ज्वल गुण हैं। जो उपासक प्रभु की संगति में आकर देव बन जाते हैं, उनकी तरह ही अपनी शक्तियों को दूसरों के कल्याण में लगाने लगते हैं और उनकी तरह ही उज्वल गुणों के निधि बन जाते हैं उन पर भगवान् की कृपा होती है। भगवान् उन्हें दीर्घ आयु देते हैं और दीर्घ आयु के साधन अन्नादि खाद्य-सामग्री भी देते हैं। भगवान् विप्र हैं, बड़े ज्ञानी हैं। भला उनके ज्ञान की तुलना कौन कर सकता है? जो उपासक भगवान् की संगति में आकर ज्ञान के महत्त्व को समझने लगते हैं और अपने ज्ञान को बढ़ाना प्रारम्भ कर देते हैं और इस प्रकार विप्र भगवान् के अनुकरण में स्वयं भी विप्र बनने

लगते हैं भगवान् की उन पर कृपा होती है। उपासक को विप्र बनने में सहायता देने के लिए भगवान् उसे धारणावती बुद्धि प्रदान करते हैं।

नौवें मन्त्र में उपासक द्वारा की गई प्रार्थना के उत्तर में दसवें मन्त्र में भगवान् ने उपासक से कहा था कि हे उपासक, तुम हमारे बन्धु और मित्र हो इसलिये हम तुम्हें वेद-प्रचार के लिये आवश्यक शरीर-बल और बुद्धि आदि का गुण जो अभी तक नहीं दिया है वह भी देते हैं। प्रभु की आज्ञा के पालन में पूर्ण रीति से लगे हुए और प्रभु पर अपने आप को सर्वथा न्यौछावर कर देने वाले—सचमुच में प्रभु का बन्धु और मित्र बन जाने वाले—उपासक पर शनैः-शनैः इन सब वस्तुओं की वृष्टि प्रभु की ओर से होने लगती है। वह प्रभु के इस दान को अनुभव करने लगता है। इस अनुभूति की अवस्था में उपासक के मुख से मन्त्र में वर्णित भाव निकलने लगते हैं। वह मन्त्र में वर्णित रीति से कहने लगता है कि हे महाराज, आप देव हैं, आप विप्र हैं, आपकी संगति ने मुझे देव और विप्र बना दिया है। आपने मुझे अन्न दिया है, बल दिया है, आयु दी है और बुद्धि दी है। और इस प्रकार हे भगवान्, आपने मुझे दिव्य गुणों को अपने भीतर बांधकर रखने वाला देवबन्धु बना दिया है, स्थितप्रज्ञ तत्त्वदर्शी अथर्वा बना दिया है। जिसका फल यह है कि अब मैं पिता बन गया हूं—औरों का पालक बन गया हूँ।

पीछे नवम मन्त्र में उपासक ने भगवान् से याचना की थी कि हे महाराज, आपने अभी तक मुझे जो कुछ नहीं दिया है वह

दीजिये। दशम मन्त्र में भगवान् ने उत्तर में कहा था कि हे उपासक, मैंने अभी तक तुझे जो कुछ नहीं दिया है वह देता हूँ। अब इस ग्यारहवें मन्त्र में जो कुछ वर्णन है उससे इस पर प्रकाश पड़ता है कि प्रभु हमारी प्रार्थनाओं को किस प्रकार पूरा करते हैं। भक्त कह रहा है कि हे प्रभो! आप देव हैं, मैं भी आपकी उपासना से देव बन रहा हूँ। आप मुझ देव को वय अर्थात् दीर्घ आयु और उसका कारण अन्न—दुग्ध, घृत, अनाज आदि स्वाद्य सामग्री देते हो · आप विप्र हैं, आपकी उपासना से मैं भी विप्र हो रहा हूं। आप मुझ विप्र को मेधा बुद्धि देते हैं। आपकी उपासना से हे प्रभो! मैं अथर्वा, पिता तथा देव-बन्धु कोटि का व्यक्ति बन गया हूँ। आप हमारे मित्र और परम बन्धु हैं। देव, विप्र, अथर्वा पिता और देवबन्धु बन गये मुझ उपासक को हे मित्र! हे बन्धु! भगवान् आप ऐसा उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कीजिये जिसकी सब लोग प्रशंसा करें। मन्त्र के इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् कब हमारी प्रार्थनाओं को पूरा करते हैं। जब हम भगवान् को अपना मित्र और बन्धु समझने लग जायेंगे जब हम अपने इस मित्र और बन्धु के गुणों का चिन्तन करके उसी की भांति देव, विप्र, अथर्वा, पिता और देवबन्धु बन जायेंगे। भगवान् से हम आयु की और उसके साधन अन्न की प्रार्थना करते हैं। भगवान् हमारी इस प्रार्थना को कब पूरा करेंगे? जब कि हम उन्हीं की तरह देव बन जायेंगे। उदाहरण के लिये देव का एक अर्थ व्यवहार करने वाला भी होता है। भगवान् सृष्टि चक्र को चलाने के रूप में अद्भुत व्यवहार कर रहे हैं। जो व्यक्ति अन्न आदि भोग्य पदार्थ लेना चाहता है उसे

व्यवहार शील बनना होगा—चेष्टा करनी होगी। उसके व्यवहार को, उसके प्रयत्न को, भगवान् भी सुफल कर देंगे। परन्तु जो हाथ पर हाथ धरके बैठ जायेगा, प्रयत्न कुछ नहीं करेगा, केवल मुंह से प्रार्थना द्वारा प्रभु से अन्न-अन्न मांगता रहेगा, उसे भगवान् उसकी प्रार्थना पर अन्न नहीं देने लगे। देव के और भी कई अर्थ हैं जो विस्तारमय से यहां नहीं लिखे जा रहे। ये अर्थ प्रभु के उस-उस गुण को कहते हैं। जो व्यक्ति प्रभु के उस-उस गुण को धारण कर के उस-उस अंश में देव बनने का यत्न करेगा भगवान् उस पर कृपा कर के उसे उस-उस अंश में और भी अधिक सफलता प्रदान करेंगे। भगवान् बुद्धि प्रदान करते हैं। पर किसको ? जो भगवान् की भांति विप्र बन जाये, जो ज्ञान सीखने का यत्न करने लग पड़े। जो विद्या की बातें सीखने का यत्न नहीं करता, हाथ पर हाथ धरके बैठा रहता है खाली भगवान् से प्रार्थना ही करता रहता है कि मेरी बुद्धि बढ़ा दो उसकी प्रार्थना पर प्रभु उसकी बुद्धि नहीं बढ़ाने लगे। प्रार्थना के साथ प्रयत्न भी होना चाहिये। प्रयत्न-हीन प्रार्थना को भगवान् पूरा नहीं करते। क्योंकि बिना प्रयत्न के जीवन में पूर्ण सत्य नहीं आता। और जो सत्य शील नहीं हैं उसकी प्रार्थना भगवान् कभी पूरी नहीं करते। स्थान स्थान पर वेद में उपदेश दिया गया है कि भगवान् असत्यकर्मी पापी को दण्डित करते हैं, उसका पक्ष नहीं लेते। जो व्यक्ति प्रभु की उपासना में बैठ कर प्रभु के गुणों को अपने में धारण करने के प्रयत्न द्वारा अपने को पवित्र नहीं बनाता है वह तो असत्यकर्मी है। इस लिये उसकी प्रार्थना वस्तुतः हृदय से नहीं निकली। और

भगवान् इसीलिये उसकी प्रार्थना को पूरा नहीं करेंगे। भगवान् तो उसी की प्रार्थना पूरी करेंगे जो उनके गुण अपने जीवन में धारण करके वास्तव में भगवान् का मित्र और बन्धु बन जायेगा।

इस सम्बन्ध में मन्त्र में भक्त ने अपने लिए जो पिता शब्द का प्रयोग किया है वह भी ध्यान से देखने योग्य है। पिता का अर्थ होता है पालना करने वाला, रक्षा करने वाला। भक्त भगवान् से कह रहा है कि हे प्रभो, मैं आपके और-और गुणों को धारण करने के अतिरिक्त आपके पितृत्व के गुण को धारण करके अपने छोटे से क्षेत्र में आपकी भांति पिता भी बन गया हूँ। मैं अपनी शक्तियों से अपने चारों ओर के प्राणियों की पालना और रक्षा भी करने लग पड़ा हूँ। मैंने स्वार्थ का जीवन त्याग कर परोपकार के मार्ग का अनुसरण कर लिया है। अब तो आप मुझे उत्तम प्रशंसनीय ऐश्वर्य प्रदान कीजिये। भक्त के मुख से इस प्रसंग में पिता शब्द के इस उच्चारण की यह एक स्पष्ट ध्वनि है कि भगवान् उन्हीं की प्रार्थनायें पूरी करते हैं जो स्वार्थी नहीं होते, जो परार्थी होते हैं। हमारी जो प्रार्थनायें स्वार्थ-बुद्धि से, दूसरों के हित को हानि पहुँचाने की बुद्धि से, की जायेंगी हमारी उन प्रार्थनाओं को भगवान् कभी भी पूरा नहीं करेंगे। ऐसी प्रार्थनायें तो वस्तुतः पाप में सहायता की प्रार्थना हैं। भगवान् पाप में भला हमारे सहायक कैसे हो सकते हैं?

सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'पिता' शब्द उन ऋषियों के लिये प्रयुक्त हुआ था, जिन्हें सृष्टि के शुरू में भगवान् ने वेद का उपदेश

दिया था। यहां उपासक यह शब्द अपने लिये प्रयुक्त कर रहा है। उसने वेद का स्वाध्याय किया है। प्रभु की कृपा से वह उसे खूब अच्छी तरह समझने में समर्थ हो गया है। और भगवान् की ही आज्ञा से उसने इस वेद-ज्ञान को सब दिशाओं में, सब मनुष्यों तक, पहुँचाने का निश्चय कर लिया है। वेद का ज्ञान लोगों तक पहुँचाने से उनकी पालना होगी—उनका कल्याण होगा। इस पालना का करने वाला होने से उपासक भी पिता बन गया है। आदि ऋषि भी तो इसीलिये पिता कहे गये थे।

वेद की राह पर चल कर हे मेरे आत्मा! क्या तू भी कभी अथर्वा, देवबन्धु और पालक पिता बनेगा?

चतुर्दश सूक्त

(अथर्व० ७।८३)

'आपः' में निवास करने वाला राजा

अप्सु ते राजन् वरुण
गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा
सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥१॥

अर्थ—(राजन्) सब के राजा (वरुण) हे वरणीय भगवन् (ते) तुम्हारा (हिरण्ययः) सुवर्णमय (गृहः) घर (अप्सु) सब मनुष्यों में (मिथः) छिपा हुआ है (ततः) इसलिये (धृतव्रतः) नियमों को धारण करने वाले (राजा) सब के राजा आप (सर्वा) सब (धामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) छुड़ा दीजिये।

परमात्मा का घर सब मनुष्यों में है। मनुष्य के लिये मन्त्र में "अप्" शब्द का प्रयोग हुआ है। वेद और वैदिक-साहित्य में

यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द "आप्लृ" धातु से बनता है। इस धातु का अर्थ व्याप्ति होता है। जिस की सब कहीं व्याप्ति या पहुँच हो उसे "अप्" कहते हैं। यह शब्द सदा बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। इस से इसके अर्थ में बाहुल्य का भाव भी समाविष्ट रहता है। जिस पदार्थ में किसी प्रकार का बाहुल्य हो और जिसकी सब कहीं या बहुत स्थानों में व्यापकता हो, पहुँच हो, उसे 'अप्" कहा जा सकता है। इस धात्वर्थ के आधार पर ही वेद-शास्त्र में यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। मनुष्य अर्थ में भी यह शब्द वेद में अनेक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में बहुत स्थानों पर "आपः" का अर्थ मनुष्य किया है। शत-पथ ब्राह्मण में भी "आपः" का एक अर्थ मनुष्य किया गया है। मनुष्य धरती पर सब कहीं फैले हुए पाये जाते हैं अथवा अनेक प्रकार के कामों में व्याप्त पाये जाते हैं इसलिये उन्हें "आपः" (अप् का कर्तृ कारक का रूप आपः होता है) कह दिया गया है। इसी आधार पर हमने प्रस्तुत मन्त्र में, अर्थ के औचित्य को ध्यान में रखते हुये, इस शब्द का अर्थ मनुष्य किया है।

मन्त्र कहता है कि वरुण भगवान् का घर "आपः" में, सब मनुष्यों है। भगवान् का नि-वास सब मनुष्यों में है, भगवान् सब के घट-घट के वासी हैं, इस बात को आलंकारिक ढंग से मन्त्र में यों कह दिया गया है कि प्रभु का घर सब मनुष्यों में है। प्रभु का वह घर "हिरण्यय" है—सुवर्णमय है। उसकी कान्ति और आभा सुवर्ण जैसी दीप्त और

आकर्षक है। सुवर्ण के वाचक हिरण्य शब्द का यौगिक अर्थ होता है 'हित रमणीय''--हितकारी और रमणीय। सुवर्ण जैसा हितकारी और रमणीय होता है वैसा ही हितकारी और रमणीय भगवान् का यह घर है। तात्पर्य यह है कि हम सब मनुष्यों के हृदयों में निवास करने वाले वरुण प्रभु सब के हितकारी हैं और बड़े रमणीय हैं—उनकी दीप्त आभा और कान्ति सुवर्ण की भांति चित्ताकर्षक है। हम सब के भीतर बना हुआ यह वरुण प्रभु का घर "मिथः"--रहस्य में रहने वाला—है, छिपा हुआ है। सर्वसाधारण को यह घर दीखता नहीं है। यद्यपि भगवान् हम सभी के हृदयों में निवास करते हैं तो भी हम इस तत्त्व को जानते नहीं हैं। साधारण रूप में वे हम से छिपे ही रहते हैं। इसीलिये हमें साधारण तोर पर प्रभु की हिरण्ययता--हितकारिता और रमणीयता—अनुभव नहीं होती। परमात्मा के रूप में कैसी परमहितकारिणी और परमसुन्दर महाशक्ति हमारे हृदयों में विराज रही है इसे सामान्यतः हम कभी अनुभव नहीं करते हैं। परन्तु जब कभी हमारी आंखें खुल जाती हैं, रहस्य का परदा हमारे आगे से हट जाता है, हम प्रभु के निवास को अपने हृदयों में अनुभव करने लग जाते हैं, तब प्रभु का जो हिरण्यय—सुवर्णमय--रूप हमारे मानस चक्षुओं के आगे आता है उसकी आभा बस अनुभव करने की ही वस्तु होती है। उस अवर्णनीय रूप का शब्दों में चित्र खेंचना असम्भव है।

हम सब के हृदयों में घर बना कर बैठे हुए वे सब के राजा वरुण 'धृतव्रत'' हैं। उन्होंने विश्व में भांति-भांति

के व्रतों को, नियमों को, चला कर धारण किया हुआ है। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र के पदार्थों के अपने-अपने नियम बनाने हैं। और सब पदार्थों को अपने शासन में रख कर वे प्रभु उनसे उन नियमों का पालन करा रहे हैं। संसार के किसी पदार्थ में उनके निर्धारित नियमों का भंग करने की शक्ति नहीं है। उनके नियमों का भंग करके संसार का कोई पदार्थ अपनी सत्ता ही नहीं रख सकता। हमारे आत्मा स्वतन्त्र होने के कारण प्रभु के निर्धारित नियमों का अनेक बार उल्लंघन कर बैठते हैं। पर उनका उलङ्घन करते ही हमें कष्ट भोगना पड़ता है। उस धृतव्रत भगवान् के व्रतों को तोड़ कर कोई सुखी नहीं रह सकता।

मन्त्र का उपासक प्रभु को सम्बोधन करके कह रहा है कि हे प्रभो! आपका निवास तो हम सबके हृदयों में है, इसीलिये आप हम सबके अधिक से से अधिक समीप हैं। और आप विश्व ब्रह्माण्ड में अपने नियमों का शासन चलाने वाले राजा हैं। इसलिये आपकी शक्ति भी असीम है। ऐसे शक्तिशाली आपकी समीपता में रह कर भी हम अनेक प्रकार के बन्धनों में जकड़े हुए हैं। जिनके कारण हमें सुख-मंगल प्राप्त नहीं हो पाता। हे प्रभो! आप हमारे सब प्रकार के बन्धनों को छुड़ा दीजिये। आपके बिना हे नाथ! हमारे बन्धनों को कौन काट सकता है? आप में ही हे प्रभो! यह सामर्थ्य है। इसलिये हम अपने उद्धार के लिये आप की ही शरण में आये हैं।

मन्त्र में बन्धन के लिये "धामानि" शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द "धामन्" शब्द के प्रथमाविभक्ति के बहुवचन का

रूप है। "धामन्" शब्द का अर्थ सामान्यतः स्थान, घर और तेज हुआ करता है। यास्काचार्य ने इसके अर्थ नाम, स्थान और जल किये हैं। इस सूक्त में "धामन्" के ये अर्थ संगत नहीं होते हैं। सारे सूक्त में भगवान् से बन्धनों से छुड़ाने की प्रार्थना हो रही है। सूक्त के तीसरे और चौथे मन्त्रों में बन्धन वाची "पाश" शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिये हमने मन्त्र के "धामानि" पद का अर्थ बन्धन किया है। अथर्ववेद के अधिकांश भाष्यकारों ने भी इस सूक्त के "धामन्" पद का अर्थ बन्धन ही किया है। अथर्ववेद के कुछ पाठभेदों में तो "धामन्" के स्थान पर "दामन्" पद मिलता है। दामन् का अर्थ तो स्पष्ट ही रस्सी, बन्धन, पाश, होता है। धामन् का शब्दार्थ होता है जो धारण करके रखे। धामन् का यह योग-लब्ध अर्थ कथंचित् बन्धन में संगत किया जा सकता है। क्योंकि बन्धन बंधे हुए व्यक्ति को अपने में धारण करके, पकड़ के, रखते हैं। कुछ भी हो, इस सूक्त में धामन् का मुख्यार्थ बन्धन ही करना होगा।

यास्काचार्य ने निरुक्त में "धामन्" के नाम, स्थान और जन्म ये तीन अर्थ किये हैं। धामन् के इन तीनों अर्थों को ध्यान में रखने से बन्धन के स्वरूप पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। हमें बन्धन में डालने में, हम से दुःख के मूल पाप करवाने में, नाम, स्थान और जन्म कई बार बड़ा भारी कारण होते हैं। मनुष्य नाम, की—यश और कीर्ति की—प्राप्ति और रक्षा के लिये अनेक बार बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठता है। नाम-रक्षा के लिये मनुष्य अपने पापों को छिपाना चाहता है। और इस छिपाने के प्रयत्न में और

नये-नये पाप करता जाता है। स्थान भी अनेक बार मनुष्य से बड़े-बड़े पाप करवा डालता है। मनुष्य स्थान के लिये, घर बार, ज़मीन जायदाद और पदाधिकार की प्राप्ति और रक्षा के लिये, भारी से भारी पापाचरण करते हुए देखे जाते हैं। जन्म भी अनेक बार मनुष्य से घोर से घोर दुष्कर्म करवा डालता है। बहुत बार देखा जाता है कि कोई व्यक्ति यह देख कर कि उसका पिता राजा है, राज्य का कोई पदाधिकारी है या और प्रकार से प्रभावशाली है, अहंकार एवं मद में भर कर दूसरे लोगों को अनेक प्रकार के कष्ट और पीड़ायें देने लगता है। हमारे पाप नाम, स्थान और जन्म किसी भी कारण से किये गये हों दुःख का हेतु हैं। हमारा प्रत्येक पाप भगवान् की न्यायव्यवस्था के अनुसार हमें दुःख में डालेगा। दुःख का जनक होने के कारण हमरा प्रत्येक पाप बन्धन है। इन तीनों प्रकार के पाप के बन्धनों से छूटने के लिये मन्त्र का उपासक भगवान् से प्रार्थना कर रहा है।

'वरणीय भगवान् का घर 'आपः' में छिपा हुआ है," मन्त्र के इस कथन से अध्यात्मविद्या सम्बन्धी और भी कितने ही सुन्दर निर्देशों की ध्वनि निकलती है। जैसा हमने ऊपर कहा है "आपः" के अनेक अर्थ होते हैं। "आपः" के दो-चार अर्थों की और यहां निर्देश कर देना अप्रासंगिक न होगा। "आपः" अमृत को भी कहते हैं। भगवान् का अमृत में निवास है। भगवान् आनन्दमय हैं। जो भगवान् का साक्षात्कार कर लेता है वह भी अमृतमय—आनन्दमय—हो जाता है। "आपः" का अर्थ "अक्षिति" अर्थात् क्षीण न होने की, दीनता न होने की,

अवस्था भी होता है। भगवान् का निवास अक्षिति में है। भगवान् अक्षीण हैं, अविनश्वर हैं, अमर हैं। जो उनका साक्षात्कार कर लेता है वह भी अक्षित और अमृत हो जाता है। "आपः" का अर्थ यज्ञ भी होता है। भगवान् का निवास यज्ञ में है। जिसका जीवन यज्ञमय हो जाता है उसी को भगवान् के दर्शन होते हैं। "आपः" का अर्थ "सर्वे देवाः"—सब देव भी होता है। भगवान् सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, वायु, विद्युत् आदि सब देवों में निवास करते हैं। सब देवों में उनकी शक्ति काम कर रही है। जो व्यक्ति इन देवों की विद्या का अध्ययन करके, इनके कार्य और नियमों के परिज्ञान द्वारा, इनमें व्याप्त होकर काम कर रही परमात्म-सत्ता का अनुभव करने की योग्यता रखता है उसी को भगवान् के दर्शन हो सकते हैं। "आपः" का अर्थ वीर्य भी होता है। भगवान का वीर्य में निवास है। जो व्यक्ति ब्रह्मचारी होकर अपने वीर्य की रक्षा द्वारा वीर्यशाली बन जाता है उसी को भगवान् के दर्शन होते हैं। "आपः" का अर्थ प्राण भी होता है। भगवान् प्राणों में निवास करते हैं। जो व्यक्ति प्राणों को और प्राणों से उपलक्षित सब इन्द्रियों को वश में कर लेता है उसी को भगवान के दर्शन होते हैं। "आपः" का अर्थ श्रद्धा भी होता है। भगवान् श्रद्धा में निवास करते हैं। जिस व्यक्ति का जीवन श्रद्धामय हो जाता उसी को भगवान् के दर्शन होते हैं। "आपः" का अर्थ शांति भी होता है। भगवान् शांति में निवास करते हैं। भगवान् में असीम शांति है। जिस व्यक्ति को भगवान् के दर्शन हो जाते हैं उसके जीवन में असीम शांति आ जाती है। और जो लोग अपने मन आदि की

चञ्चलता दूर करके उन्हें शांतियुक्त कर लेते हैं उन्हीं को प्रभु के दर्शन होते हैं "आप:" का अर्थ रस भी होता है। भगवान् रस में निवास करते हैं। वेद के शब्दों में भगवान् "रसेन तृप्त: न कुतश्चनोन:"—रस से परिपूर्ण हैं। जिसे भगवान् के दर्शन हो जाते हैं उसका जीवन पूर्ण रसीला हो जाता है। उसके सब ताप मिट जाते हैं। इन अर्थों में से कुछ के द्वारा भगवान् के दर्शनों से मिलने वाले लाभों की सूचना मिलती है और कुछ के द्वारा उनके दर्शन के साधनों की सूचना मिलती है। अध्यात्म-विद्या के प्रेमी साधक को इन सब लाभों को लेने के लिये इन सब साधनों का अवलम्बन करना चाहिये। इन सब लाभों के लिये भगवान् के दर्शन करने हमें कहीं दूर, बाहर नहीं जाना होता। वे भगवान् तो सभी "आप:"—मनुष्यों - के हृदयों में निवास करते हैं। उन्हें देखने के लिये केवल अन्तर्वृत्ति होने की देर है।

हे मेरे आत्मा! तेरे अपने भीतर विराज रहे उस हिरण्यय भगवान् के दर्शन करने के लिये तेरी आँखें कब खुलेंगी?

हमने "आप:" को अघ्न्या समझ लिया है और आपकी रट लगा ली है

धाम्नो धाम्नो राजन्,
इतो वरुण मुञ्च नः।
यदापो अघ्न्या इति,
वरुणेति यदूचिम,
ततो वरुण मुञ्च नः ॥२॥

अर्थ—(राजन्) हे सबके राजा (वरुण) वरणीय भगवान् (इतः) इस (धाम्नः धाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (नः) हमको (मुञ्च) मुक्त कर दीजिये (यत्) क्योंकि (आपः) मनुष्य, प्राण आदि (अघ्न्या) हिंसा न करने के योग्य हैं (इति) इस प्रकार और (यत्) क्योंकि (वरुण) हे वरणीय प्रभो (इति) इस प्रकार (ऊचिम) हम कहते रहे हैं (ततः) इस लिये (वरुण) हे वरणीय देव (नः) हमें (मुञ्च) बन्धनों से मुक्त कीजिये।

गत मन्त्र में भगवान् को घट-घट वासी बता कर उनसे अपने बन्धन काटने की प्रार्थना की गई थी। प्रस्तुत मन्त्र में वही प्रार्थना प्रकारान्तर से की गई है। और इसी प्रसंग में यह भी बता दिया गया है कि हम भगवान् से अपने बन्धन काटने की प्रार्थना करने के अधिकारी कब बनते हैं।

हम जो भगवान् से अपने बन्धन काटने की प्रार्थना करते हैं केवल हमारी उस शाब्दिक प्रार्थना को सुनने मात्र से भगवान् हमारे बन्धनों को नहीं काट देते हैं। भगवान् हमारे बन्धनों को तभी काटते हैं जब वे हमें बन्धन काटने का अधिकारी समझ लेते हैं। इस मन्त्र का उपासक अपने भगवान् के आगे बन्धन कटवाने के अपने इसी अधिकार को उपस्थित कर रहा है। वह कह रहा है कि हे प्रभो! मैं और मेरे साथी, हम सब लोग, आपसे जो अपने सब प्रकार के बन्धन काटने की प्रार्थना कर रहे हैं उसका हेतु यह है कि हमने अपने आपको आपसे यह प्रार्थना करने का अधिकारी बना लिया है। हमें आपसे यह प्रार्थना

करने का अधिकार दो कारणों से प्राप्त है। एक तो यह कि हमने "आपः" को अघ्न्या जान लिया है। हम "आपः" के अघ्न्यापन को जान कर सदा उसकी घोषणा करते रहते हैं। अपने जीवन को "आपः" के अघ्न्यापन के सिद्धान्त के अनुसार हम व्यतीत करते हैं और औरों के आगे इस सिद्धान्त का उपदेश करके उन्हें हम इस के अनुसार जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा करते रहते हैं। हमने अपने और अपने आस पास के सब लोगों को इस सिद्धान्त के अनुसार चलने वाला बना लिया है। मन्त्र के उपासक के इस कथन के भाव को समझने के लिये हमें आपः शब्द के विभिन्न अर्थों की ओर ध्यान करना चाहिये। गत मन्त्र की व्याख्या में हमने आपः के कई अर्थों की ओर निर्देश किया था। उन अर्थों में से मनुष्य, प्राण, वीर्य और सब देव ये चार अर्थ ऐसे हैं जिन की इस मन्त्र में विशेष रूप से संगति लग सकती है। मन्त्र का उपासक भगवान् से कह रहा है कि हमने यह जान लिया है कि आपः अर्थात् मनुष्य अघ्न्या हैं—हिंसा न करने के योग्य हैं। हमने जान लिया है कि हमें किसी मनुष्य की हिंसा नहीं करनी चाहिये, हमें किसी मनुष्य को कष्ट और पीड़ा नहीं देनी चाहिये। हमें किसी मनुष्य के साथ अत्याचार नहीं करना चाहिये। हमें किसी भी मनुष्य के अधिकारों को हड़प कर उसे सताना नहीं चाहिये। हमें परस्पर के व्यवहार में पूर्ण अहिंसा-शील रहना चाहिये। हमारा दूसरे मनुष्यों के साथ प्रेम और उपकारमय व्यवहार रहना चाहिये। ऐसा समझ कर हम सब मनुष्यों के साथ इसी प्रकार का व्यवहार करते हैं। मन्त्र का उपा-

सक इसी कथन द्वारा भगवान् से यह भी कह रहा है कि हमने यह भी जान लिया है कि आपः अर्थात् प्राण हिंसा न करने के योग्य हैं। हमें किसी भी प्राणी के प्राणों की हिंसा नहीं करनी चाहिये। मनुष्य ही नहीं हमें किसी भी प्राणी के प्राण लेकर अपने स्वार्थ के लिये उसकी हत्या नहीं करनी चाहिए। हमें किसी भी प्राणी को अपने स्वार्थ के लिये किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिये। हमें सब प्राणियों के प्रति प्रेममय, उपकारपूर्ण अहिंसावृत्ति से रहना चाहिये। ऐसा समझ कर हम सब प्राणियों के प्रति ऐसा ही व्यवहार रखते हैं। मन्त्र का उपासक इसी अपने कथन द्वारा भगवान् से यह भी कर रहा है कि हमने यह भी जान लिया है कि आपः अर्थात् वीर्य हिंसा न करने योग्य है। हमने जान लिया है कि हमें वीर्य का नाश नहीं करना चाहिये। हमें संयम का जीवन बिताना चाहिये। हमें अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये। ऐसा समझ कर हम सदा संयम का का—मनोवशित्व और इन्द्रियजयित्व का—ही जीवन व्यतीत करते हैं। मन्त्र का उपासक अपने इसी कथन द्वारा भगवान् से यह भी कह रहा है कि हमने यह भी समझ लिया है कि आपः अर्थात् 'सर्वे देवाः'—सब देव—हिंसा न करने के योग्य हैं। हमने जान लिया है कि हमें अग्नि, वायु, जल, आदि देवों के नियमों को कभी नहीं तोड़ना चाहिये। हमारा रहन-सहन, हमारे घर-बार आदि का निर्माण, सदा इन देवों के नियमों को ध्यान में रख कर होना चाहिये। ऐसा जान कर हम लोग सदा अपने जीवनों को इन देवों के नियमों की अनुकूलता में रखते हैं। हे

देव ! हमारा जीवन इस प्रकार आप: की अनन्यता के सिद्धान्त पर चलने वाला होगया है। हम सब मनुष्यों और प्राणियों के साथ प्रेममय, उपकार-पूर्ण अहिंसा का बरताव करते हैं। हमारे जीवन में पूर्ण संयम और इन्द्रियों का दमन रहता है। हमने अग्नि, जल आदि सब देवों और उनसे बने सब भौतिक पदार्थों के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके अपना जीवन उन नियमों के अनुसार ढाल रखा है इस हेतु हे नाथ ! हम आपसे अपने बन्धनों को काटने की प्रार्थना करते हैं।

एक और कारण से भी हे नाथ ! हम आपसे यह प्रार्थना करने का अधिकार रखते हैं। और वह यह कि हम सदा हे वरुण ! हे वरुण ! इस प्रकार आपको पुकारते रहते हैं। हम आपके वरणीय रूप का सदा स्मरण करते रहते हैं। हम आपके नाम का सदा चिन्तन करते रहते हैं। हमें सदा आपका ही ध्यान रहता है। हमारी चित्तवृति सदा आप में ही लगी रहती है। आप में हमारा गाढ़ा अनुराग हो गया है। आपकी प्राप्ति के सिवा हमारा और कुछ प्राप्तव्य नहीं रहा है। आपके दर्शन जब तक हमें नहीं हो जायेंगे तब तक अब चैन न पड़ेगी। अब हमें आपकी प्राप्ति की तीव्र लालसा लग गई है। इस कारण हे नाथ ! आप हमारे बन्धनों को काट कर हमें मुक्त कीजिये और अपने दर्शन देकर हमें कृतार्थ कीजिये।

नाथ ! इन दोनों प्रबल बातों के रहते हुए भी क्या आप हमारे सब बन्धनों को न काटोगे ? प्रभो ! पूर्ण अहिंसामय, पूर्ण संयममय और प्राकृतिक नियमों की पूर्णअनुकूलतामय हमारा जीवन

हो चुका है और आपके दर्शनों की तीव्र लालसा हमारे भीतर उत्पन्न हो चुकी है, अब तो आपको हमारे बन्धन काटने ही होंगे। अब तो आपको हमें बन्धन-मुक्त करना ही होगा। स्वामिन्! अब तो आप हमारे सब प्रकार के बन्धन बस काट ही दो। अब तो हमें निगडित करके रखने वाले सब धामों को तोड़ दो। हम नाम, स्थान और जन्म के चक्र में पड़े रहते हैं, और इनके चक्र में पड़ कर जो भांति-भांति के पापाचरण करते रहते हैं जिनके कारण हमें अनेक प्रकार के दुःख-जाल में फंसना पड़ता है, नाथ! अब तो आप दुःख-बन्धन के इन सब कारणों को मिटा दो। अब तो नाथ! जिससे हम आपके दर्शनों से प्राप्त होने वाले निरन्तर स्थायी सुख की अवस्था में रह सकें वैसी व्यवस्था हमारी कर दो।

हे वरणीय भगवन्! अब तो हमें बन्धनों से मुक्त कर दो! मुक्त कर दो!

मन्त्र के उपासक ने प्रार्थना की जिस अद्भुत शैली का अवलम्बन करके भगवान् के आगे उनके द्वारा अपने बन्धनों को कटवाने के अधिकार को उपस्थित किया है उससे पाठकों को यह तो स्वयं ही अवगत हो गया होगा कि वेद के अनुसार उसी व्यक्ति के बन्धन कट सकते हैं, वही व्यक्ति मुक्त-बन्धन हो कर परमानन्द प्राप्त कर सकता है, जो (१) अपने जीवन को अहिंसामय, संयममय और प्राकृतिक नियमों की अनुकूलतामय बना लेता है तथा जो (२) भगवान् के प्रति श्रद्धासमन्वित होकर उनका तीव्र अनु-

रागी बन जाता है। पहली बात से जीवन में पवित्रता आती है। और दूसरी बात से जीवन में रस आता है।

हे मेरे आत्मा ! यदि तू बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्द की अवस्था प्राप्त करना चाहता है तो तू भी अपने जीवन को अहिंसा-मय, संयममय और प्राकृतिक नियमों की अनुकूलतामय बना ले और उसमें भगवान् के लिये अनुराग की भावना जगा ले।

तीन प्रकार के पाश

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवा-
नागसो अदितये स्याम ॥३॥

अर्थ—(आदित्य) सूर्य की भांति प्रकाशमान और विनाश-रहित (वरुण) हे वरणीय प्रभो, हमारे (उत्तमं) सब से ऊंचे अर्थात् सिर के (पाशं) बन्धन को (उत्-श्रथाय) ऊपर से उतार कर शिथिल कर दीजिये (अधमं) सब से निचले अर्थात् पैरों के बन्धन को (अव-श्रथाय) शिथिल करके नीचे गिरा दीजिये, और (मध्यमं) मध्य भाग के, बन्धन को भी (वि-श्रथाय) वियुक्त करके शिथिल कर दीजिये (अध) आपकी कृपा से हमारे पाशों के शिथिल हो जाने के अनन्तर (वयं) हम लोग (अनागसः)

निष्पाप होकर (तव) आपके (व्रते) नियमों में (अदितये) अखण्डित-रूप से उनका पालन करने के लिये (स्याम) रहें।

गत दोनों मन्त्रों में हमारे बन्धनों को काटने के लिये भगवान् से प्रार्थना की जा रही थी। मन्त्रों में प्रयुक्त बन्धन के वाचक धामन् शब्द द्वारा बन्धनों के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश इन मन्त्रों की प्रार्थना में डाल दिया गया था। प्रस्तुत मन्त्र की प्रार्थना में बन्धनों के स्वरूप पर एक और प्रकार से प्रकाश डाला गया है।

हमें दुःख में बांधने वाले हमारे पाप-पाश तीन प्रकार के हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। हमारे शरीर में सब से ऊंचा स्थान सिर का है। हमारी सारी ज्ञान-शक्ति का केन्द्र सिर ही है। हमारे मस्तक में जो पाप-संकल्प उठते रहते हैं, वहां जो पाप के विचार उठते रहते हैं, वे उत्तम कोटि के पाश हैं। क्योंकि ये पाप-विचार ही हमारे सब प्रकार के पापों के मूल कारण होते हैं। हमारे शरीर के मध्य भाग में पेट और जननेन्द्रिय हैं। पेट लोभ-लालच का प्रतिनिधि है और जननेन्द्रिय विषयासक्ति का। हम लोभ-लालच और विषयासक्ति में फंस कर जो पाप करते हैं वे सब मध्य कोटि के पाप हैं। हमारे शरीर का अधम—सबसे निचला—भाग पैर हैं। पैर ज्ञान-हीनता का प्रतिनिधि है। हमारे अनेक पाप हमारी ज्ञान-हीनता के कारण होते हैं। अज्ञान के कारण हम जो पाप करते हैं वे सब "पैर" के पाप हैं—अधम पाप हैं। यह मन्त्र पीछे ऋग्० १।२४ सूक्त में भी आ चुका है। इस दिशा में इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या पाठकों को वहीं देखनी चाहिये।

पाशों के उत्तम, मध्यम और अधम विभाग की व्याख्या एक और प्रकार से भी हो सकती है। भगवान् की इस सृष्टि के आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक ये तीन भेद किये जाते हैं। इन तीनों प्रकार की सृष्टियों के अपने पृथक्-पृथक् नियम हैं। इन नियमों के भंग करने से पाप उत्पन्न होता है जो कि दुःख में फंसने का कारण होता है। आधिदैविक जगत् के नियमों के भंग रूप पाप को हम उत्तम पाश कह सकते हैं, आध्यात्मिक जगत के नियमों के भंग रूप पाप को मध्यम और आधिभौतिक जगत् के नियमों के भंग रूप पाप को अधम पाप कह सकते हैं। इस विभाग की उत्तम-मध्यमाधमता कल्पित वस्तु है। परमात्मा को, देवाधिदेव होने से, आधिदैविक विभाग में गिनने पर इस विभाग को उत्तम कहा जा सकता है, आध्यात्मिक विभाग को मध्यम और आधिभौतिक विभाग को अधम कहा जा सकता है। परमात्मा को, आत्मा होने के कारण, आध्यात्मिक विभाग में गिनने पर इस विभाग को उत्तम कहा जा सकता है, आधिदैविक विभाग को मध्यम और आधिभौतिक विभाग को अधम कहा जा सकता है।

एक और प्रकार से भी पाशों की उत्तममध्यमाधमता की कल्पना की जा सकती है। सारा जगत् प्रकृति के सत्त्व, रज और तम नामक गुणों या अंशों के विभिन्न योगों से बनता है। हमारे शरीर में भी इन तीनों गुणों का मिश्रण है और हमारे विचारों के साधन मस्तक में भी इन तीनों गुणों का मिश्रण है। हमारे शरीर की सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन अवस्थायें समय-समय पर होती रहती हैं। इसी प्रकार हमारे मन में भी सात्त्विक,

राजस और तामस वृत्तियें उठती रहती हैं। सत्त्व को उत्तम, रज को मध्यम और तम को अधम समझा जाता है। जब हमारा आत्मा शरीर और मस्तक की इन तीनों प्रकार की वृत्तियों से पुण्य के कार्य करता है तब तो ये पाश नहीं बनती हैं। पर जब हम इन वृत्तियों की सहायता से पाप के कर्म करते हैं तब ये वृत्तियें पाश बन जाती हैं—बन्धन हो जाती हैं। क्योंकि तब ये हमें दुःख में बांधने का कारण होती हैं।

उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के पाप-पाशों को काटने में हमने भगवान् से सहायता लेनी है। उनकी संगति में जाकर हमने उनकी कृपा से शक्ति प्राप्त करके इन तीनों प्रकार के बन्धनों को तोड़ना है—तीनों प्रकार के पापों से अलग होना है। और इस प्रकार अनागस्—निष्पाप—होकर भगवान् के निर्धारित व्रतों—नियमों—को अखण्डित रूप में पालन करते रहने की अवस्था में पहुँचना है। यह अवस्था हमें सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलवा कर अन्त में मुक्ति की—ब्रह्मसाक्षात्कार की—आनन्दमय अवस्था में ले जाती है।

हे मेरे आत्मा! तू अपने तीनों प्रकार के बन्धनों को तुड़वाने के लिये भगवान् की संगति में कब जायेगा?

—:❀:—

सब पाशों से मुक्त होकर हम सुकृत के लोक में चले जायें

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान्

य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।

दुःश्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मद्

अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(वरुण) हे वरणीय भगवान् ! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) बन्धनों को (प्रमुञ्च) छुड़ादे (वारुणाः) तुझ वरुण द्वारा बनाये हुए (ये) जो (उत्तमाः) उत्तम और (ये) जो (अधमाः) अधम, बन्धन हैं (दुःष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्नों में होने वाले (दुरितं) पाप को (अस्मत्) हमसे (निष्व) दूर भगादे (अथ) पाप रहित होने के अनन्तर (सुकृतस्य) सुकृतके (लोकं) लोक को (गच्छेम) हम प्राप्त होवें ।

गत मन्त्रों में पाश-विमोचन के लिये भगवान् से जो प्रार्थना हो रही थी वही इस मन्त्र में भी हो रही है । मन्त्र का उपासक पाप-पाशों से तंग आ गया है । वह इन्हें काट देना चाहता है । इसीलिये वह आतुर-भाव से बार बार भगवान् से इन्हें काट देने की प्रार्थना कर रहा है । वह बार बार भगवान् से प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभो ! मेरे सब प्रकार के बंधनों को तोड़ने में मेरी सहायता कीजिये । कोई भी पापपाश मेरे साथ चिपटा न रहने दीजिये । उत्तम, अधम सब प्रकार के पाशों को अब तो तोड़ दीजिये ।

मन्त्र में उत्तम और अधम के ग्रहण से मध्यम का अध्याहार स्वयं ही कर लेनी चाहिये।

इस मन्त्र की पाश-विमोचन की प्रार्थना में प्रसंग से एक प्रकार के पापों की ओर और निर्देश कर दिया गया है। वे पाप हैं स्वप्न में हमारे मनों में उठने वाले अपवित्र विचार। बहुत बार हम प्रयत्न से अपनी ऐसी अवस्था कर लेते हैं कि जागृति की अवस्था में दिन भर हमारे मनों में कोई अपवित्र विचार उत्पन्न नहीं होता है। परन्तु रात को सोने के समय स्वप्नों में हमारे मनों में अपवित्र विचार आया करते हैं। हम प्रायः स्वप्नों में उठने वाले इन विचारों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं। हम समझते रहते हैं कि दिन भर हमारे मन में कोई बुरा विचार नहीं उठता और न ही दिन भर कोई बुरा काम हम करते हैं। यदि स्वप्न में कोई अपवित्र विचार हमारे मन में आ जाते हैं तो उससे हमारा क्या बिगड़ता है। ऐसा समझ कर हम स्वप्न में उठने वाले उन अपवित्र विचारों को रोकने की चेष्टा नहीं करते हैं। परन्तु ऐसा समझना हमारी भूल होती है। स्वप्न के अपवित्र विचार संयम के, ब्रह्मचर्य के, क्षेत्र में तो तत्काल हानि पहुँचाते हैं। पवित्रता के दूसरे क्षेत्रों में भी थोड़ी देर बाद उनका प्रभाव होने लगता है। स्वप्न में कुछ काल तक निरन्तर अपवित्र विचार उठते रहने से हमारी पवित्रता की भावना ढीली पड़ने लगती है और इसका परिणामस्वरूप हम जागृत में भी अपवित्र विचार सोचने और अपवित्र आचरण करने लगते हैं। स्वप्न में चोरी, झूठ आदि का आचरण करते रहने पर हमारे जागृत जीवनों में भी

इन अपराधों के आ घुसने की संभावना बनी रहती है। फिर, स्वप्नावस्था के विचार तो हमारे जागृत विचारों की मूर्त्ति मात्र हुआ करते हैं। स्वप्नावस्था के हमारे अपवित्र विचार इस बात की सूचना देते हैं कि दिन में जागने की अवस्था में भी वे अपवित्र विचार हमारे मन में कभी न कभी छिप कर आ घुसते हैं। होता यह है कि हमें याद नहीं रहता है कि दिन में किस समय कोई अपवित्र विचार हमारे मन में उठा था। इस याद न रहने से हम समझ लेते हैं कि जागते में हमारे मन में कोई अपवित्र विचार उठता ही नहीं है। ध्यान से पड़ताल करने पर हमें पता लग जायेगा कि दिन में जागते हुए भी कितने ही अपवित्र विचार हमारे मन में उठते रहा करते हैं। स्वप्न में उन्हीं की नये-नये रूपों में आवृत्ति हुआ करती है। इसलिये जिसके मन में स्वप्नावस्था में अपवित्र विचार उठते रहते हैं उस व्यक्ति को समझ लेना चाहिये कि उसके मन में अभी अपवित्रता बसी हुई है उसके मन ने अभी पापों को त्यागा नहीं है। उस व्यक्ति को भगवान् की संगति में—उपासना में—बैठ कर गन्दे स्वप्नों के रूप में प्रकट होने वाले अपने मन के पापों को दूर करने का यत्न करना चाहिये।

जब हमारे मनों में कभी स्वप्न में भी कोई अपवित्र विचार नहीं उठेगा तब हमें समझना चाहिये कि हमारे जीवन में पवित्रता आई है। जब हम स्वप्न समय के पापों को भी त्याग देंगे तब हमें समझना चाहिये कि हम निष्पाप हो गये हैं।

इस प्रकार निष्पाप होने का फल यह होगा कि फिर हमसे सदा सुकृत ही होंगे, हमसे सदा पवित्र कर्म ही होंगे। सुकृतशाली होने पर हमें वह लोक प्राप्त होगा जो पुण्य से मिला करता है। वह लोक है सुख का लोक - आनन्द का लोक। सुकृतशाली होने पर हम जब तक इस लोक में रहेंगे तब तक भी सदा सुखी रहेंगे और जब हमारे सुकृतों से, पुण्यों से, प्रसन्न होकर परमेश्वर हमें अपना रूप दिखा देंगे और हमें मोक्ष की अवस्था में, ब्रह्मलोक में, ले जायेंगे तब तो हम और भी अवर्णनीय आनन्द की स्थिति में रहेंगे।

हे आत्मा! तेरी वह अवस्था कब आयेगी जब कि कभी स्वप्न में भी तेरे भीतर अपवित्र विचार नहीं उठेंगे? इस पूर्ण पवित्रता की अवस्था को प्राप्त करके तू कब सुकृत के लोक को प्राप्त करने का अधिकारी बनेगा?

अनुक्रमणिका

वरुण की नौका—लेखक श्री आचार्य प्रियव्रत जी

मूल्य प्रथम भाग ३)

द्वितीय भाग ३)

'वरुण की नौका' पर कुछ चुनी हुई सम्मतियां

गवर्नमेन्ट संस्कृत कालिज, बनारस के प्रिंसिपल श्री मंगलदेव जी शास्त्री एम. ए., डी. फिल्—

वैदिक संहिताओं में वरुण देवता के सूक्त उत्कृष्टता, उच्च भावना, नैतिकता तथा विचारगाम्भीर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। ग्रन्थकार ने उन्हीं सूक्तों को एकत्र करके उन पर जो सुन्दर व्याख्या की है वह विद्वत्ता से पूर्ण होने के साथ साथ साधारण जनता के लिए भी सुगम और रोचक सिद्ध होगी। जनता में वैदिक स्वाध्याय के द्वारा वैदिक उदात्त भावनाओं के प्रचार में पुस्तक अवश्य सहायक होगी।

महाविद्यालय ज्वालापुर के कुलपति श्री नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ—

इस में कई प्रकरण तो इतने भाव पूर्ण हैं कि भक्तिप्रवण व्यक्ति तल्लीन होकर एक बार संसार की चिन्ताओं को भूल जाता है, चाहे स्वल्प समय के लिये ही क्यों न हो।

वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् तथा लेखक श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम. ए.—

आपकी गवेषणापूर्ण व्याख्या आपकी अपूर्व विद्वत्ता की परिचायिका है। वैदिक विचारों के प्रचार में इससे बहुत सहायता मिलेगी।......आपको बधाई है।

गरुकुल पोठोहार रावलपिण्डी रावल, के आचार्य श्री स्वामी आत्मानन्द जी (पं० मुक्तिराम जी)—

आपका यह व्याख्यान सुसंगत तथा भावपूर्ण है। इस ऐसी सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या के लिये मैं आपको बधाई देता हूँ। प्रत्येक भगवद्भक्त के पास प्रातःकाल के स्वाध्याय के लिए यह पुस्तक होना चाहिए।

वैदिक विनय, वैदिक ब्रह्मचर्य गीत, ब्राह्मण की गौ, तरंगित हृदय आदि के यशस्वी लेखक 'अभय' जी—

गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री पं० प्रियव्रतजी वेदावाचस्पति की लिखी 'वरुणकी नौका' नामक पुस्तक देखकर मुझे आनन्द हुआ। इस पुस्तकमें ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के वरुण सूक्तों की व्याख्या है। श्री पं० प्रियव्रतजी वेद के विद्वान् हैं, गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक हैं, वे बहुत वर्षों से वरुण के सूक्तों का विशेषतया मनन करते रहे हैं। मुझे आशा है कि उनकी लिखी यह पुस्तक स्वाध्यायशील आर्य-पुरुषों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगी, विशेषतः उनमें प्रभुभक्ति उत्पन्न करने में बहुत सहायक होगी।

श्री अरविन्द आश्रम पांडीचेरी के A. B. Purani—

I have gone through the book & I am glad to Say that you hove brought out the sighificance of 'Varuna' very well.

साप्ताहिक आर्यमित्र' लखनऊ—

आचार्य प्रियव्रत जी ने इस पुस्तक को लिख कर स्वाध्याय-शील वैदिक साहित्य प्रेमियों का वस्तुतः विशेष हित साधन किया है। हम आशा करते हैं कि वैदिक साहित्य के प्रेमीजन इसे अपनायेंगे।

'सार्वदेशिक' देहली—

प्रत्येक ईश्वरभक्त स्वाध्यायप्रेमी को इसकी एक प्रति मंगवा कर और उसका प्रतिदिन स्वाध्याय करके आध्यात्मिक लाभ उठाना चाहिये। भाषा इतनी सरल और शैली इतनी उत्तम है कि उसका चित्त पर विशेष प्रभाव हुए बिना नहीं रह सकता।

'आर्य मार्तण्ड' अजमेर—

पुस्तक इतनी सरल, सरस भाषा में लिखी गई है कि पढ़ने वाला चमत्कारित होने के साथ साथ भक्तिरस में परिप्लावित हो आनन्दविभोर हो जाता है। आचार्यजी वैदिक सागर के जहां सफल गोताखोर हैं, वहां वैदिकी-गङ्गा के प्रबल प्रवाह में से चुन-चुन कर काम की चीज निकालने वाले सफल तैराक भी हैं। इतना ही नहीं वे समय पड़ने पर अपने परिश्रम के फलों को नौका पर

लाद कर तीर पर खड़ी श्रद्धालु जनता को धर्मधन के रूप में खड़े लुटा देने वाले भी हैं।

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी भूतपूर्व वेदोपाध्याय श्री विश्वनाथ जी विद्यालंकार—

'वरुण की नौका' नामक पुस्तक मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ी है। वेद के वरुण सूक्तों की व्याख्या इस पुस्तक में बहुत सुन्दर रूप में हुई है। दृष्टि यह रखी गई है कि मन्त्रों के गम्भीरतम भाव भी सर्वसाधारण को समझ में आ सकें। मन्त्रों के प्रतिपद के भावों को भी खोल कर दिखा दिया गया है। मन्त्रों की परस्पर संगति के दर्शाने में भी लेखक बहुत सफल हुए हैं। वेदभक्तों को इस पुस्तक का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। यह पुस्तक आर्यसाहित्य में ऊंचा स्थान रखती है।

श्री इन्द्र जी विद्यावाचस्पति—

पं० प्रियव्रत जी आर्यसमाज के उन थोड़े से विद्वानों में से हैं, जिन्होंने वेदों का बहुत गहन अध्ययन किया है। वरुण की नौका में व्याख्या विस्तृत और विशद है। यह स्वाध्याय के लिये अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है।

गुरुकुल पुस्तक भंडार, गुरुकुल कांगड़ी

(सहारनपुर)

अर्पित गुरुकुल कांगड़ी हेतु

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में इस कुल के पिता, अमरकीर्ति, स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की पुण्य-स्मृति में एक 'श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि' स्थापित हुई है। जो सज्जन चाहें वे इन श्रद्धेय स्वामी जी की स्मृति में इस कुल को प्रतिवर्ष दस या इससे अधिक रुपये देने का प्रतिज्ञा-पत्र भर कर इसके सभासद बन सकते हैं। अभी तक ऐसे सभासदों का हमारा परिवार लगभग पांच-सौ सज्जनों का बन चुका है। इन्हीं सज्जनों को प्रतिवर्ष गुरुकुलोत्सव पर भेंट करने के लिये यह 'स्वाध्याय-मञ्जरी' गुरुकुल से प्रकाशित की जाती है।

गुरुकुल-यन्त्रालय, गुरुकुल कांगड़ी में मुद्रित तथा प्रकाशित।